निखिलेश्वरानन्द
चिन्तन
डॉ० नारायण दत्त श्रीमाली

अनुक्रम

पुरोवाक्	५
आत्म-पिपासा	११
अनुस्मृति	२१
वायवीमुद्रा	२५
फलित-ज्योतिष	३३
शिवोऽहं शंकरोऽहम्	४१
विश्वरूपात्मक दर्शन	५५
त्रिजटा	६१
रत्न औषधि	६७
चित्त-सञ्चार	७५
त्वदीयं वस्तु गोविन्द . . .	६१

पुरोवाक् . . .

गुरुदेवः जगत्सर्वं ब्रह्मा विष्णु शिवात्मकम्।
गुरोः परतरं नास्ति तस्मात्संपूजयेद् गुरुम्।।

अर्थात् "यह समस्त जगत गुरुमय है। गुरु ही ब्रह्मा, विष्णु और शिव स्वरूप हैं। गुरु से बड़ा अन्य कोई परम तत्त्व नहीं है, अतः गुरु ही एकमात्र वन्दनीय और पूजनीय हैं।"

मानव-शरीर अद्भुत है। इस शरीर में ही समस्त तीर्थ, समस्त मंत्र, समस्त तंत्र, समस्त बीजाक्षर, मूलाक्षर और विद्याक्षर हैं, पर मानव अपने-आपको समझने में असमर्थ रहा है, इसीलिए भटक रहा है। मनुष्य वास्तव में क्या है, इस तथ्य से साक्षात्कार गुरु ही करवाता है।

पर गुरु, मात्र नाम के ही गुरु न हों, वे शिष्य की अन्तर्अग्नि जगा सकें, उसे आत्मानन्द में लीन कर सकें, शक्तिपात द्वारा कुण्डलिनी जाग्रत कर सकें; जो ज्ञान दें, मस्ती दें, प्रेम दें, निष्कामता दें और जीतेजी इष्ट के दर्शन करा सकें, वही तो गुरु हैं; ऐसे ही गुरु 'शिव' पद के, कल्याण पद के अधिकारी हैं।

यो गुरुः स शिवः प्रोक्तः यः शिवः स गुरुः स्मृतः।
उभयोरन्तरं नास्ति गुरोरपि शिवस्य च।।

अर्थात् "जो गुरु हैं वही शिव हैं और जो शिव हैं वही गुरु हैं। गुरु और शिव में कुछ भी अन्तर नहीं है।"

ऐसे ही गुरु सर्वज्ञ होते हैं। वे संग्रह की शिक्षा न देकर त्याग की शिक्षा देते हैं, द्वेष की जगह प्रेम का पाठ पढ़ाते हैं, व्यष्टि की जगह समष्टि में उसे लीन करते हैं।

पर गुरु को समझना अत्यन्त कठिन है। वे गृहस्थ में रहते हुए

भी अगृहस्थी होते हैं, पंक में पंकज बने रहते हैं; इसीलिए तो 'हठ योग प्रदीपिका' में कहा है –

दुर्लभो विषयत्यागः दुर्लभं तत्त्वदर्शनम् ।
दुर्लभा सहजावस्था सद्गुरोः करुणां विना ।।

अर्थात् "सद्गुरु की कृपा के बिना विषय-भोगों का त्याग कठिन है। तत्त्व का ज्ञान दुर्लभ है तथा कैवल्य पद की प्राप्ति सम्भव नहीं है।"

गुरु व्यक्ति नहीं हैं, गुरु तो उनमें निहित ज्ञान है। गुरु-भक्ति ही वह दिव्य ज्योति है, जो शिष्य के अन्तर् में प्रविष्ट होकर उसे आलोकित कर देती है, और तब शिष्य के मुंह से जो भी ध्वनि निकलती है, वह गुरुपद-वेष्टित होती है। शिष्य के लिए गुरु का आदेश ही मंत्र है, गुरु आज्ञा-पालन ही दीक्षा है।

पर जब अन्तर् में मैल होता है, राग और द्वेष होता है तब सन्देह, भ्रान्ति एवं निन्दा का जन्म होता है, और ज्यों-ज्यों विकार बढ़ते हैं, त्यों-त्यों चित्त में गुरु की मूर्ति धुंधली पड़ती जाती है, और वह व्यक्ति साधना-क्षेत्र में पिछड़ने लगता है।

साधना-क्षेत्र में सफल होने के लिए आवश्यक है कि वह व्यक्ति मनसा, वाचा, कर्मणा से शुद्ध एवं पवित्र हो। जब तक उसका आन्तरिक मैल – असत्य, सन्देह, परनिन्दा – दूर नहीं होगा, तब तक वह साधना-क्षेत्र में प्रवृत्त होने का अधिकारी नहीं माना जाता। इसी प्रकार उसका बाह्य रूप एवं अन्तर् भी शुद्ध होना चाहिए। उसका आसन पवित्र हो, उसके वस्त्र शुद्ध, पवित्र, एवं सहज हों; न तो वे ज्यादा कसे हुए हों और न ही ज्यादा आंखों को चकाचौंध करने वाले हों।

साधना-क्षेत्र में वही व्यक्ति सफल हो सकता है, जो कि एकाग्र रूप से अपना सम्पूर्ण जीवन गुरु को समर्पित कर दे। जब तक शिष्य के मन में तर्क है तब तक उसकी बुद्धि निर्मल नहीं कही जा सकती। साधना का आधार विश्वास होता है और जिसके हृदय में विश्वास का समुद्र हिलोरें मार रहा हो, वही व्यक्ति साधना के क्षेत्र में पूर्णतः सफल होता है।

मानव-जीवन की सार्थकता तभी कही जा सकती है, कि जिस कार्य के निमित्त उसका जन्म हुआ हो, वह अपने उस कार्य को सही प्रकार से सम्पन्न कर दे। जब तक वह अपने कार्य को पूर्ण नहीं कर सकता, तब तक उसका जीवन अपूर्ण कहा जाता है, और इस कार्य की सम्पूर्णता को पहिचानने और पूर्ण कराने का उत्तरदायित्व श्रेष्ठ गुरु पर ही निर्भर करता है। इसीलिए लोकोक्ति है – "जिसने श्रेष्ठ गुरु प्राप्त कर लिया, उसने पूर्ण जीवन एवं उसकी सार्थकता प्राप्त कर ली।"

'शारदा तिलक' में श्रेष्ठ गुरु के विषय में लिखा है –

मातृतः पितृतः शुद्धः शुद्धभावो जितेन्द्रियः ।
सर्वागमानां सारज्ञः सर्वशास्त्रार्थ तत्त्ववित् ।।१।।

परोपकार निरतो जप पूजादि तत्परः ।
अमोघ वचनः शान्तो वेद-वेदार्थ पारगः ।।२।।

योग मार्गानुसन्धायी देवता हृदयंगमः ।
इत्यादि गुण सम्पन्नो गुरुः स एव संमतः ।।३।।

अर्थात् "श्रेष्ठ गुरु वही कहा जा सकता है, जो मातृकुल एवं पितृकुल से पवित्र होता है, तथा नित्य ही उसके चित्त में समन्वय-भाव का सागर लहराता हो; वह इन्द्रियों पर पूर्ण रूप से विजय प्राप्त करने वाला, सभी आगम-ग्रंथों का ज्ञाता एवं समस्त शास्त्रों का जानने वाला हो। सफल गुरु वही कहा जा सकता है, जो हर क्षण दूसरों की भलाई में निरत रहे; जप-पूजा-ध्यान में दक्ष हो, उसके वचन अमोघ एवं सिद्ध हों, शान्त प्रकृति हो तथा वेदों के मर्म का जानने वाला हो। योग-मार्ग का अनुसंधान करने वाला, देवताओं का प्रिय तथा आगम-निगम में निष्णात हो, ऐसा ही व्यक्ति सही अर्थों में गुरु कहलाने का अधिकारी होता है।"

जहां गुरु के लिए इतने बंधन एवं मर्यादाएं रखी हैं, वहीं शिष्य – योग्य शिष्य के लिए भी कुछ नियम-उपनियम रखे हैं, जिनकी कसौटी पर खरा उतरने पर ही वह सही अर्थों में शिष्य कहलाने का गौरव पा सकता है –

शिष्यः कुलीनः शुद्धात्मा पुरुषार्थ परायणः ।
अधीतवेदः कुशलः दूरमुक्त मनोभवः ।।१।।

हितैषी प्राणिनां नित्यमास्तिकस्त्यक्त् नास्तिकः।
स्वधर्म निरतो भक्त्या पितृ मातृ हितोद्यतः।।२।।

वामनः कायवसुभिर्गुरु शुश्रूषणे रतः।
त्यक्ताभिमानो गुरुषु जाति विद्या धनादिभिः।।३।।

गुर्वाज्ञा पालनार्थं हि प्राण व्यय रतोद्यतः।
विहत्य च स्वकार्याणि गुरु कार्यरतः सदा।।४।।

दासवन्निवसेद्यस्तु गुरौ भक्त्या सदा शिशुः।
कुर्वन्नाज्ञां दिवा रात्रौ गुरु भक्ति परायणः।।५।।

आज्ञाकारी गुरुः शिष्यो मनोवाक्काय कर्मभिः।
यो भवेत्स सदा ग्राह्यो नेतरः शुभ कांक्षया।।६।।

मंत्र पूजा रहस्यानि यो गायति सर्वदा।
त्रिकालं यो नमस्कुर्यादागमाचार तत्त्ववित्।।७।।

स एवं शिष्यः कर्तव्यो नेतरः स्वल्प जीवनः।
एतादृश गुणोपेतः शिष्यो भवति नापरः।८।।

शिष्य के लिए यह आवश्यक है, कि वह सदैव पुरुषार्थ, परिश्रम करने में तत्पर रहे; वेदों के बारे में जिज्ञासा एवं ज्ञान हो तथा उसे जो भी कार्य सौंपें, सुघड़ता, तत्परता एवं चातुर्यता से उसे सम्पन्न करे। इसके साथ ही इस बात की शिष्य में नितान्त आवश्यकता है कि वह कामवासना से दूर हो तथा काम, क्रोध व लोभ जैसे दुर्गुणों को अपने से काफी दूर रखता हो।

शिष्य समस्त प्राणियों के हित को चाहने वाला, आत्महितचिन्तक, आस्तिक तथा प्रभु चरणों में पूर्ण श्रद्धा रखने वाला हो, जो अपने धर्म का कट्टरता से पालन करता हो तथा जिसकी माता-पिता के प्रति पूर्ण श्रद्धा एवं भक्ति हो। योग्य शिष्य की पहली और आखिरी कसौटी यह है कि वह गुरु के प्रति घमंड प्रदर्शित न करे, जाति, कुल या धन की वजह से गुरु से अपने को सर्वोपरि न समझे तथा स्वयं के शरीर से, मन से तथा धन से गुरु के प्रति पूर्ण समर्पित भाव हो। "त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये" की भावना उसके विचारों में हो।

शिष्य-पद का वही अधिकारी हो सकता है, जो अपने गुरु की आज्ञा को प्राण-समर्पित करके भी पूर्ण करे, परन्तु फिर भी मन में किसी प्रकार का दर्प या घमंड न आवे। अपने कार्यों का भी विहनन कर गुरु के कार्यों को पूर्ण करे। गुरु के पास नित्यदासवत् विनम्र रहकर सीखने को उद्यत रहे, जिसका व्यवहार शिशुवत् हो तथा दिन-रात गुरु-हित में ही सचेष्ट रहे। मन, वाणी एवं कर्म से गुरु की आज्ञा का पालन करे तथा नित्य गुरु के चरणों में बैठकर, वे जो भी सिखावें, उसे श्रद्धापूर्वक स्वीकार कर मनन करे।

शिष्य के लिये यह भी आवश्यक है, कि वह गुरु-मुख से प्राप्त रहस्यों को गोपन रखे और बिना गुरु की आज्ञा के उसे उजागर न करे।

— इस प्रकार के गुणों से संयुक्त हो वह सच्चा शिष्य-पद प्राप्त करने का अधिकारी होता है।

आत्म-पिपासा

मेरी जन्मकुण्डली में, ईश्वर जाने ऐसे किन ग्रहों का संबंध-संयोग हुआ है, कि मेरा जीवन अद्‌भुत संयोगों का समन्वय हो गया है, परस्पर विरोधी कार्यों का मंथन एक ही मस्तिष्क में होता रहा है। मैं गृहस्थी के मूल्यों को, उसके कर्त्तव्य को जानता हूं और यथा सम्भव गृहस्थ जीवन के कर्त्तव्यों का भली प्रकार पालन करता हूं। एक प्रकार से मैं सुखी हूं, अपने गृहस्थ जीवन के प्रति सन्तुष्ट हूं, पर रह-रहकर मेरा ध्यान, मेरी विचारधारा जंगलों में चली जाती है, यद्यपि मैं सभा-सोसाइटियों में जाता हूं, भाग लेता हूं पर मेरा मन उनमें नहीं रमता।

मेरी इच्छा घनघोर जंगलों में जाने की होती है, साधु-सन्तों के सान्निध्य में रहने की इच्छा रह-रहकर बलवती हो उठती है. . . और जब यह इच्छा जरूरत से ज्यादा वेगवान हो जाती है, तो मैं कुछ दिनों के लिए बिना घर में बताये दूर जंगलों में भटकता रहता हूं। मेरा यह सौभाग्य रहा है, कि मुझे ऐसे साधु मिल जाते हैं, जिनके चरणों में बैठने से मन को पूर्ण शान्ति मिलती है और मानसिक बोझ से हल्का-सा हो जाता हूं. . . फिर मैं घर लौट आता हूं, गृहस्थ जीवन में लग जाता हूं और उसी निस्पृह भाव से गृहस्थ सुख भोगता हूं, जिस भाव से वैराग्य सुख भोगा था।

मेरे कई हितैषी मुझे पूछते हैं— 'जब आप दुर्लभ वैराग्यरस चख चुके

हैं, तब फिर पुनः इस गृहस्थ जीवन में क्यों उलझ रहे हैं?'

'मैं गृहस्थ को भी एक तपस्या मानता हूं, जैसी की वैराग्य-साधना तपस्या है'– ऐसी जगह मुझे मेरे सहबन्धु "स्वामी प्रभुपाद" द्वारा सुनाया हुआ दृष्टान्त याद आ जाता है–

दो भाई थे। इन दोनों भाइयों में मुश्किल से दो वर्ष का अन्तर था। दोनों भाई जब चौदह-सोलह साल के हुए तो इनके पिताजी का देहान्त हो गया। पिता के देहान्त के आघात से बड़े भाई ने गृहस्थ को लात मारकर वैराग्य ले लिया और किसी साधु का शिष्य हो गया। छोटा भाई क्या करता, उसे तो अपनी मां, बहिन का भरण-पोषण करना ही था, अतः वह घर पर ही रह गया। कुछ दिनों बाद उसने शादी की और नियमपूर्वक गृहस्थ जीवन चलाने लगा।

इस बात को बीस वर्ष बीत गये। बड़े भाई का कहीं अता-पता नहीं था, कि वह जीवित भी है या नहीं– तभी एक दिन वह बड़ा भाई भगवे वस्त्रों में छोटे भाई से मिलने के लिए आया। उसने देखा कि छोटा भाई मां के पास बैठा भोजन कर रहा है, सामने पत्नी भोजन बना रही है तथा भाई के साथ ही उसके तीन-चार बच्चे भी एक ही थाली में भोजन कर रहे हैं, जिनकी उम्र आठ वर्ष से लगाकर दो वर्ष की थी।

बड़े भाई को देखते ही छोटा भाई प्रेम-विह्वल हो उठा। उसे खाट बिछाकर बिठाया तथा चरण छूने लगा, तो बड़े भाई ने पैर पीछे हटा लिये, बोला– 'अरे! तू अभी तक इस गृहस्थ-रूपी नरक में पड़ा सड़ रहा है, क्यों इन बच्चों के पीछे अपना परलोक बिगाड़ रहा है?'

छोटे भाई ने कहा– 'आप तो चले गये, पीछे मैं ही तो बचा था। मैं भी चला जाता तो घर की देखभाल कौन करता? मां की सेवा कौन करता? बहिन की शादी कैसे होती?'

– 'अरे मूर्ख!'

बड़ा भाई बोला– 'सभी अपने कर्मों के भरोसे जिन्दा रहते, पर तुझे शादी करने को किसने कहा था?'

इन छोटे-छोटे कीड़े-मकोड़ों (बच्चों) को उत्पन्न कर, खिलाने-पिलाने को किसने कहा था? देख, मैंने बीस वर्षों तक तपस्या की है, मेरी तपस्या का चमत्कार देख।

– और उसने आग्नेय नेत्रों से समाने नीम के पेड़ पर बैठी चिड़िया की ओर देखा. . . और दूसरे ही क्षण वह चिड़िया तड़पकर भूमि पर आ गिरी और वहीं ढेर हो गई।

'देखा मेरा चमत्कार. . . मेरे नेत्रों की ज्वाला. . . मेरी तपस्या. . . खैर, मैंने तो यह सिद्धि प्राप्त की, तूने तो अकारथ ही जीवन खोया, तूने क्या सिद्धि प्राप्त की?'

छोटा भाई मुस्कराया, बोला– 'वास्तव में आपने बीस वर्षों में चिड़िया को पेड़ से गिराकर, समाप्त करने की सिद्धि तो प्राप्त की, पर इससे क्या. . . क्या वह जो सामने जल से भरा लोटा है, उसे आप बिना उठे यहां ला सकते हैं?'

– 'नहीं! अभी तो इतनी सिद्धि प्राप्त नहीं कर सका।'

बड़ा भाई बोला– 'पर इससे क्या, तू तो कुछ भी नहीं कर सकता।'

– 'मैं अपनी सिद्धि से, अपनी तपस्या से यहां बैठे-बैठे उस लोटे को अपने पास ला सकता हूं।'

बड़ा भाई चौंका, फिर हंसा– 'अच्छा! लाकर दिखा! देखें तेरी तपस्या!'

छोटे भाई ने अपने छः वर्षीय पुत्र को पुकारा– 'पप्पू! बेटे!! उस लोटे को तो ला!'

छोटा पप्पू किलकता हुआ डगमगाते पैरों से चलकर उस लोटे को उठाकर पिता के पास ले आया।

छोटा भाई बोला– 'देखी मेरी साधना! मेरी तपस्या! इस गृहस्थ-तपस्या को सम्पन्न करने के लिए मैंने भी काफी कष्ट उठाये हैं. . . सन्तान को जन्म देना, उसका पालन-पोषण करना. . . कोई कम साधना नहीं है। यह साधना, आपकी उस वैराग्य-साधना से कठिन ही है, सरल नहीं. . . और आपने देख ही लिया कि मैं बैठे-बैठे ही अपनी तपस्या के फल से भारी लोटा अपने पास तक खींच लाया हूं।'

बड़ा भाई किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो गया। वस्तुतः गृहस्थ-साधना अधिक कठोर एवं फलदायी है, और उसी क्षण वह भगवे कपड़े उतार कर छोटे भाई के चरणों में, गृहस्थ जीवन में दीक्षित होने के लिए गिर पड़ा।

मेरे कहने का तात्पर्य है, कि साधना करने के लिए भभूत लगाना या भगवे कपड़े पहनना आवश्यक नहीं है। गृहस्थ जीवन में रहते हुए भी हम साधना-क्षेत्र में प्रवेश लेकर पूर्णतः सफल हो सकते हैं।

मेरे अग्रज गुरु भाई पीठाधीश्वर "स्वामी सर्वदानन्द" का तो कहना है, कि सफल योग-साधना गृहस्थ में रहकर ही सम्भव है, क्योंकि गृहस्थ में रहने से वह पूर्ण तुष्टि अनुभव करता है और उसकी साधना में किसी भी प्रकार की बुभुक्षा या पिपासा नहीं रहती। एक बार उन्होंने बातों ही बातों में कहा था— "योग एवं मंत्र-तंत्र साधना में तुम जितने ही निष्णात होओ, जितने ही ज्यादा सफल होओ उतने ही ज्यादा तुम गृहस्थ दिखो। व्यर्थ का दिखावा मत करो, नहीं तो लोग तुम्हें जिन्दा नहीं रहने देंगे। बिलकुल साधारण बने रहो, उकसाने पर भी चमत्कार प्रदर्शन में मत लग जाओ। दिनभर साधारण गृहस्थी बने रहो, पर रात्रि के तीन से प्रातः पांच बजे तक प्रभु के समीप रहो. . . यही सफलता सच्ची होगी. . . तुम आराम से जीवित रहोगे, अन्यथा ये धन-पिपासु तुम्हें हाथों-हाथ ऊपर उठायेंगे, तलवे सहलायेंगे, पर काम निकलने के बाद मुड़कर देखेंगे भी नहीं।"

उनकी यह बात मैंने गांठ बांध ली है। वास्तव में इस छल-छिद्रमय दुनिया में सुखपूर्वक जिन्दा रहना है, तो साधारण जीवन, साधारण वेशभूषा, साधारण रहन-सहन अपनाना जरूरी ही नहीं आवश्यक है।

इसी प्रसंग पर मुझे डेढ़ साल पहले की घटना याद आ रही है—

कानपुर के प्रसिद्ध सेठ का टेलीफोन मुझे मिला— 'आप कानपुर पधारें, तथा इस बार लक्ष्मी पूजा आप ही करावें।'

मैं व्यस्त था और दीपावली के दिन मैं कानपुर जा नहीं सकता था, अतः मैंने विनम्रतापूर्वक अपनी अस्वीकृति दी।

इसके तीसरे या चौथे रोज उनका दिल्ली से टेलीफोन आया— 'पंडितजी! मैं जोधपुर आ रहा हूं और आपको स्वीकृति देनी ही पड़ेगी।'

टेलीफोन कट गया— मैंने चुपचाप टेलीफोन रख दिया।

इसके छठे रोज वे जोधपुर आये और एक होटल में रुके। मुझे मिलने के लिए आये, मैं कार्यालय गया हुआ था, वे सीधे ही घर आए थे।

टेलीफोन मिलने पर घर लौटा, तो सेठजी बैठे हुए थे। उन्हें देखते ही छठी इन्द्रिय ने मुझे चेतावनी दी, कि यह व्यक्ति धन-मद में ग्रस्त है और अगले एक साल के भीतर-भीतर गलत कार्यों में फंसकर राज्यदण्ड का भागी होगा।

मैं सामान्य वेशभूषा में था। मेरे निर्वाह के लिए सामान्य, पर सुरुचिपूर्ण

छोटा-सा घर है, वे हतप्रभ हुए. बोले— 'पंडितजी! आपका काफी नाम सुना है, धनिक परिवारों में, फिल्म की ऊंची से ऊंची हस्तियों के बीच तथा राजनीतिक परिवारों में भी, पर आपको देखकर निराशा ही हुई. . .।'

— 'क्यों?'

— 'इस छोटे से ही घर में आप रहते हैं, मेरे पास दो एकड़ में फैली कोठी है, नौकर-चाकर हैं, दरबान हैं. . . और आप. . .!'

मैं हंसा, मैंने कहा— 'सेठजी! ईश्वर ने आपको गलती से धनपति बना दिया है, पर मूलतः हो तो तुम मकान बनाने वाले राजगीर, कारीगर, चमार और धोबी ही— क्योंकि तुम मनुष्यता नहीं परख सकते, तुम पहचानते हो मकान को, चिकनी चमड़ी को, उजले और भड़कीले कपड़ों को. . . क्यों, ठीक कह रहा हूं न!'

उनका चेहरा तमतमा आया; 'जी' और 'हजूर' शब्दों को रात-दिन सुनने वाला, ऐसे शब्द कठोरता से गले उतार पाया।

बोला— 'नहीं!'

मैंने कहा— 'सेठजी! मैं पीतल की थाली में ही खाकर सन्तुष्ट हूं। सोने-चांदी की थालियों की मुझे दरकार नहीं, पर सम्भलो सेठ! लक्ष्मी चंचल है, फिसलने वाली है. . . लक्ष्मी आने पर छाती में लात मारती है; जिससे घमंड से उसका मुंह ऊपर उठ जाता है, धरती की ओर वह देखता ही नहीं, पर जाते वक्त लक्ष्मी पीठ में लात मारती है, क्योंकि धनमद में वह किसी की सहायता नहीं करता और धन के जाने के बाद वह पछताता है, शर्म से उसकी आंखें जमीन से चिपक जाती हैं, ऊपर तक नहीं उठतीं।'

— 'पर पंडितजी! आपने जौहरी के घर उस समय लक्ष्मी-पूजन कराया था, जब वह अत्यन्त विपन्नावस्था में था और जिस दिन से आपने लक्ष्मी-पूजन कराया है, उसी दिन से उसके जीवन में परिवर्तन होने लगा है, आज दो साल की छोटी सी अवधि में ही वह पुनः लाखों-करोड़ों में खेलने लगा है, वह मेरा मित्र है, उसके जीवन का कोई तथ्य मुझसे छिपा नहीं है. . .।'

— 'पर सेठजी! उसकी आंखें उस समय दयालु थीं और आज करोड़पति बनने पर भी उसकी आंखें आसमान को नहीं ताकतीं, धरती पर बिछी रहती हैं।'

अस्तु; सेठजी ने मेरा छोटा सा घर, सादा रहन-सहन देख आश्चर्य प्रकट

किया था; जिसके संकेत पर निर्माता लाखों रुपये झोंक देता है, जिसका ऊंचे से ऊंचे मंत्रियों से पारिवारिक संबंध है, फिर वह बड़ी कोठी में क्यों नहीं... शाही रहन-सहन क्यों नहीं...!

साल डेढ़ साल बाद उत्तर प्रदेश जाने का मौका मिला, तो पता चला कि जुए में, घुड़दौड़ में वे सब-कुछ हार चुके थे। कोठी बेचने की नौबत आ गई थी, और आजकल किराये के मकान में रह रहे हैं... शर्म से मिलने तक न आ सके।

मैंने यह सुना तो एक शिष्य को साथ लेकर उनके घर गया, आतिथ्य ग्रहण किया और लक्ष्मीपूजन कराया... अब उनकी आंखें धरती पर थीं।

मेरे कहने का तात्पर्य है— 'आदमी को वास्तविकता पहचानने की क्षमता होनी चाहिए, व्यक्ति में जितनी साधना या चमत्कार है, उसे प्रदर्शित करना मूर्खता है — और गृहस्थ, इस दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ कवच है, इस साधना के मंत्र-बल को ढकने का...।'

मनुष्य स्वभावतः प्रकृति प्रिय है, यद्यपि वह ऊंचे-ऊंचे महलों में रहने के कारण प्रकृति से अलग-थलग पड़ गया है, पर फिर भी उसकी प्रकृति प्रियता छूटी नहीं है। गमलों में फूल उगाकर, पौधे लगाकर वह इसी प्रकृति प्रियता की पुष्टि करता है... और इसी कारण मुझे जब भी समय मिलता है, मैं इस कृत्रिम, बनावटी दुनिया से दूर, जंगल में साधु-संतों के निकट चला जाता हूं और जब मैं अपने जीवन को पीछे मुड़कर देखता हूं, तो वे सात-आठ साल (जिन वर्षों में मैं पूर्णतः जंगलों में ही रहा), अपने जीवन की अमूल्य धरोहर समझता हूं। ईश्वर को बार-बार धन्यवाद देता हूं, कि उनकी कृपा से मैं भारत के दुर्गम स्थानों तक जा सका, अलभ्य साधु-सन्तों के चरणों में बैठकर सीख सका तथा "अतुलनीय शक्तिसम्पन्न कालजयी सिद्ध-पूज्य श्री सच्चिदानन्द जी" को गुरुत्व के रूप में पा सका। वह घड़ी मेरे जीवन की अवर्णनीय है, जिस घड़ी पूज्य परमहंस स्वामी सच्चिदानन्द ने मुझे शिष्य रूप में स्वीकार कर अपनी अद्भुत सिद्धियों के लिए द्वार खोल दिए, जिसमें मैं प्रवेश कर काफी कुछ जान सका, समझ सका और सीख सका... इसकी भी कहानी अद्भुत है।

ज्योतिष मेरे घर का पैतृक धन्धा है। ज्योतिष मेरे लिए कोई नई बात नहीं थी और मंत्र-तंत्र-अनुष्ठान-ज्योतिष आदि के वातावरण में ही पलकर मैं बड़ा हुआ। कठिन परिश्रम के साथ एम० ए० किया और विशेष विषय (आधुनिक हिन्दी

काव्य में संस्कृति का विवेचन) की गहराई में डूबकर पी एच० डी० भी की। श्रेष्ठ स्थिति में नौकरी लग गई थी और गृहस्थ जीवन में दो पुत्रों का पिता भी बन चुका था... पर रह-रहकर मेरा मन विद्रोह कर बैठता, कि तुम जीवन में घिसटने के लिए पैदा नहीं हुए हो। नौकरी तो कोई भी कर लेगा, कर सकता है... क्या इस नौकरी में ही फंसकर दो जून रोटी के जुगाड़ में जीवन बिता दोगे।

इस बीच ज्योतिष में भी मेरा दखल हो चुका था, पर मैं आश्वस्त न था। ऐसा प्रतीत हो रहा था, कि किसी समय ज्योतिष अपने-आप में सर्वांगपूर्ण विद्या रही होगी और इससे निश्चय ही वे त्रिकालदर्शी बने होंगे, पर बीच का समय कुछ ऐसा अंधकारपूर्ण रहा, कि उस समय ज्योतिष की काफी कुछ कड़ियां लुप्त हो गई। आधुनिक युग में ज्योतिष ने पुनः सिर उठाया है, पर प्राचीन और अर्वाचीन युग के बीच की जो कड़ियां लुप्त हो गई हैं, उन्हें ढूंढ निकालना जरूरी है। जब तक वे खोये सूत्र हाथ न लगेंगे तब तक ज्योतिष अपूर्ण ही रहेगा... और जब मैं सुनता कि ज्योतिष अपूर्ण है, छल है, तो मैं झुंझला उठता और जब देखता कि लोग मंत्र-तंत्रों का उपहास कर रहे हैं, तो मेरा साक्षर मन विद्रोह कर उठता।

— आखिर यह है क्या?

— क्या ज्योतिष की लुप्त कड़ियां ढूंढी जा सकती हैं?

— क्या तंत्र-मंत्रों में सत्यता है?

— यदि सत्यता है, तो लोगों के सामने स्पष्ट उजागर कर देनी चाहिए और यदि यह सब ढोंग है, तो खुले आम डंके की चोट पर यह कहने से भी नहीं चूकना चाहिए कि यह मात्र फ्रॉड है... धोखा है... छल है... और ऐसी ही संघर्षमय मनःस्थिति में मैं यह सब सीखने, समझने एवं तथ्यातथ्य का निर्णय करने के लिए घर से निकल जाने का विचार करने लगा।

पर काफी दिनों तक ऊहापोह में रहा, न नौकरी में मन लगता और न घर में शान्ति मिलती... एक अनोखा-सा अन्तर्द्वन्द्व पूरे मन को, आत्मा को मथ रहा था 'पत्नी को कहूं या नहीं... क्या मां स्वीकृति दे देगी... पर दूसरे ही क्षण दूसरा विचार उभरता... नारायण! केवल जीवन घिसटने के लिए ही तेरा जन्म नहीं हुआ है... क्या उपयोगिता है इस जीवन की, यदि मैं कुछ कर न सका या समाज को, देश को, कुछ दे न सका... कीड़े-मकोड़ों की तरह पैदा होकर मर जाना

भी क्या जिन्दगी है?'

— और इसी घुमड़न में एक रात अपनी पत्नी के सामने सारी बात खोल बैठा और यह भी कहा— 'मुझे तुम रोक तो सकती हो. . . पर आत्मा के प्रति तुम्हारा यह अन्याय ही होगा. अपनी बात कहकर अगले निर्णय को सुनने के लिए उसके चेहरे पर आंखें गड़ा दीं।'

पर हुआ सब कुछ आशा के विपरीत ही। उसने सहर्ष स्वीकृति दे दी, आनन्द और उल्लासपूर्ण स्वर में. . . वे दिन जो कि उसके खाने-खेलने के थे, उसे मैंने व्यथा, एकांत एवं पति-विमुखता की झोली में डाल दिये। मैं आज भी इस देवी के व्यक्तित्व के प्रति कृतज्ञ हूं। मेरे लिए इसने जितना भी दुःख, परेशानी और व्यथा उठाई है, उतनी कम स्त्रियों ने उठाई होगी. . . और यदि स्पष्ट शब्दों में कहूं कि जितना ऋण मेरे पूज्य गुरु का मुझ पर है. . . उससे कम ऋण मेरी पत्नी का नहीं रहा। आज मैं जो कुछ बन सका हूं. . . वह इन दोनों व्यक्तियों के फलस्वरूप ही है— यह कहने में मुझे कोई संकोच नहीं, हिचक नहीं।

पर जब मां को पता चला, तो सारा गुड़ गोबर हो गया— उसने दिन भर भोजन नहीं किया, उसे यह समझ में नहीं आ रहा था, कि इतने ऊंचे स्तर की नौकरी, और इतनी श्रेष्ठ तनख्वाह के [illegible] हुए यह क्या सूझी, कि लगी-लगाई नौकरी छोड़ दे, आराम छोड़कर जंगलों में भटके।

दूसरे दिन शाम को मैं उसके चरणों में बैठ गया, बोला— 'यदि आप आज्ञा नहीं देंगी, तो निश्चय ही नहीं जाऊंगा, पर मेरी इच्छा है कि एक बार तंत्र-मंत्रों को परख लूं, ज्योतिष की लुप्त कड़ियों को पहचान लूं। यह बात अलग है, कि मुझे इस समय अच्छी तनख्वाह मिल रही है, जो इस उम्र में बिरलों को ही मिलती होगी, श्रेष्ठ मकान है, सुविधा है, ऐश-आराम है. . . पर यही तो सब कुछ नहीं है, इसके आगे भी तो कुछ है. . . और उसी को पहचानना आवश्यक है. . . फिर मैं कोई गृहस्थी छोड़ तो नहीं रहा हूं, साधु तो नहीं बन रहा हूं, भभूत लगाकर वैराग्य धारण नहीं कर रहा हूं।'

किसी भी तरह समझाने से मां नहीं मान रही थी. . . और मेरा मन भी किसी काम में नहीं लग रहा था। मैंने मन ही मन निर्णय लिया कि मुझे प्रत्येक स्थिति में मां से आज्ञा लेनी ही है. . . और यही सोच कर, मैं उस तालाब के किनारे जा बैठा जिस तालाब से मां रोज पानी भरने के लिए आती थी। जब मां पानी भरने

के लिए आयी, तो मैं तालाब में घुस गया और गहरे पानी में जाने लगा। मां जानती थी, कि मुझे अभी अच्छी तरह तैरना नहीं आता, अतः उसने मुझे बाहर आने के लिए कहा।

मैंने कहा— "मां! मैं बाहर तभी आऊंगा जब तुम मुझे जाने की आज्ञा दो, नहीं तो मैं यहीं जल समाधि ले लूंगा।"

मां पहले तो नाराज हुई, लेकिन वह समझ गयी, कि इसके ऊपर मेरे क्रोध का कोई असर नहीं होने वाला है; अतः वह अनुनय-विनय करने लगी, किन्तु मेरे हठ के आगे वह विवश हो गयी। अपने कलेजे पर पत्थर रख कर बोली—

— 'नारायण! तू बाहर आ जा. . . जहां भी जाना चाहता है, तू चला जा. . . लेकिन अपनी जान मत दे. . . कम से कम मुझे यह तसल्ली तो रहेगी, कि मेरा बेटा जीवित है. . . और एक न एक दिन मेरे पास लौट कर जरूर आयेगा।'

मां ने स्वीकृति दे दी. . . और मैं एक दिन दो धोती, दो कुर्ते और एक लोटा लेकर घर से निकल पड़ा— एक अनजाने पथ पर— एक अनचीन्हे रास्ते पर— एक दुर्गम क्षितिज की ओर— मन में दृढ़ संकल्प, हिम्मत एवं सफलता का विश्वास लेकर।

— और आज जब मैं इन पंक्तियों को लिखते वक्त अपने जीवन की ओर पीछे मुड़कर देखता हूं, तो पाता हूं, कि मेरा निर्णय सोलह आने सही था। यदि मैं उस क्षण वह कदम नहीं उठाता, तो जीवन-भर के लिए पश्चाताप बना रहता, अस्तु।

अनुस्मृति

घर से निकलते समय मैंने यह निश्चित कर लिया था, कि घर से किसी भी प्रकार का सम्पर्क नहीं रखूंगा, न पत्र व्यवहार द्वारा और न व्यक्तिगत रूप से; क्योंकि जब घर के बारे में, सर्दी-जुखार के बारे में कोई समाचार मिलते हैं, तो मन व्यथित हो जाता है, जो लक्ष्य-सिद्धि में बाधा पहुंचाती है।

लगभग तीन-चार महीने मैं निरुद्देश्य भटकता रहा। कुछ साधु मिले भी, पर उनसे मन नहीं भरा, उनके पास सतही ज्ञान ही था— करीब चार-साढ़े चार महीने बाद "स्वामी पूर्णानन्द जी" से साक्षात्कार हुआ गुजरात में — वे जंगल में ही रहते, मात्र एक लंगोटी ही पहनते और बाकी सारा शरीर नंगा रहता। मैं उनके पास करीब सात दिन रहा, पर उन्हें न तो भोजन करते देखा और न पानी पीते ही। मैं प्रातः-सायं पड़ोस के गांव में जाकर आटा ले आता तथा जंगल में स्वयंपाकी बन, पानी के साथ रोटी गले के नीचे उतार देता। उनसे मुझे इस सम्बन्ध में प्रारम्भिक ज्ञान हुआ। उनके विचार थे, किसी साधु या गुरु से सीखने के लिए चार गुणों की नितान्त अनिवार्यता है—

- हठ, दुराग्रह, छल एवं कुतर्क को छोड़ देना।

- साधु या गुरु के प्रति पूर्ण आत्मसमर्पण।
- अपनी व्यक्तिगत मान्यताओं एवं विचारों का गुरु के विचारों में लय।
- पूर्ण एवं निश्छल श्रद्धा।

ये चारों ही गुण आगे के समय में ज्ञान प्राप्त करने में अत्यधिक सहायक रहे। स्वामीजी गायत्री उपासक थे और कई पुरश्चरण कर लिए थे। मैंने उनके बिना खाये-पिये रहने की बात उनके सामने चलाई, तो वे हंसकर टाल गए— मैं कुछ जानना चाहता था, पर उन्होंने इस सम्बन्ध में पूर्णतः मौन धारण कर रखा था या जब भी ऐसा प्रसंग चलता, वे प्रसंग बदल देते। मैं समझ गया ये देने में समर्थ नहीं हैं या फिर अभी मुझमें पात्रता नहीं आ पाई है। मैं आठवें रोज उनके चरण छू आगे के लिए, अनिश्चित लक्ष्य की ओर बढ़ गया।

स्वामी पूर्णानन्दजी के पास से जाने के बाद एक अघोरी जिन्हें लोग "मधुसूदन बाबा" के नाम से जानते थे, उनके साथ रहने का अवसर मिला। वे पूर्ण अघोरी तो नहीं थे, परन्तु तंत्र-विद्या में काफी दखल रखते थे। विशेषकर सांप पकड़ कर जेब में डाल लेना, किसी व्यक्ति को जमीन पर ही चिपका देना, कितनी ही आग जलाने के बाद भी पानी को गरम न होने देना, मूठ फेंकना, आदमी या शत्रु के मुंह से खून गिरा देना आदि ऐसी छोटी-मोटी काफी विद्याएं उनके पास थीं. . . और मेरी सेवा से प्रसन्न होकर मुझे सिखाई भी।

— पर छः वर्षों के बाद जब पुनः गृहस्थ जीवन में आया, तो इन्हें समाजोपयोगी न समझकर छोड़ दिया, किन्तु अब भी पुनः स्मरण करने पर इन्हें साबित किया जा सकता है।

एक दिन मधुसूदन बाबा मुझे रात्रि को बारह बजे श्मशान ले गये, बोले— 'आज तुम्हें भूत-विद्या सीखनी है। एक भूत तुम्हारे वश में कर देना है, फिर किसी भी बात की कोई कमी नहीं रहेगी, जो भी मांगोगे, सहज ही मिल जाएगा।'

यह मैं अपनी आंखों से देख चुका था, कि वे कभी भोजन अपने हाथों से नहीं बनाते थे। कुटिया के दो भाग थे— एक भाग में ये बैठे रहते, दूसरे भाग में बरतन, आटा, पानी पड़ा रहता और उस दूसरे भाग

में खटर-पटर होती रहती, जैसे कोई भोजन पका रहा है और घण्टे-डेढ़ घण्टे में गरम भोजन बनता भी. . . एक बार बातें करते-करते जिज्ञासावश दूसरे भाग में गया भी. . . वहां कोई प्राणी नहीं था, पर स्वतः ही रोटी बनी जा रही थी, तवे पर गिरती, सिकती तथा नीचे क्रमवार जमती। पूछने पर उन्होंने बताया— 'मेरा सेवक भूत यह सब कर रहा है।'

— तो उस रात मुझे श्मशान में ले जाकर, एक स्थान पर बिठा दिया तथा स्वयं भी पास में बैठ गए और चारों ओर एक लकड़ी से रेखा खींच दी।

चांदनी रात थी। थोड़ी देर में मैं क्या देखता हूं, कि विचित्र वेशभूषा-वर्ण वाले प्राणी चारों ओर नाच रहे हैं, पर उस घेरे में कोई कदम नहीं रख रहा है। निश्चय ही वे भूत थे और भयानक थे। मुझे अपनी आंखों पर विश्वास नहीं हुआ। जंघा पर चिकोटी काटी। स्पष्ट था मैं निद्रा में नहीं था, सजग था, पर जो कुछ भी देख रहा था वह भयानक था। बाबा का ध्यान दूसरी ओर था. . . थोड़ी देर बाद उन्होंने वह माया समेटी, और मुझे लेकर कुटिया पर आ गए। दूसरे दिन मैंने उनसे विदा ले ली। यद्यपि उन्होंने इस क्षेत्र में छत्तीस विद्याएं सीखाई थीं। उन्होंने रुकने का काफी आग्रह भी किया, पर मेरा लक्ष्य कुछ और था।

— मैं आगे बढ़ गया।

वायवीमुद्रा

घूमते-घामते उन्हीं दिनों आबू पहुंचा। अभी तक मैं राजस्थान और गुजरात के आस-पास ही चक्कर लगा रहा था। आबू की नक्की झील, बाजार आदि उन दिनों मेरे आकर्षण की वस्तु नहीं थे। मैं गोमुख से नीचे उतरकर वसिष्ठ आश्रम तक गया। वहां चौबीस घण्टे के लगभग रहा। वहीं चार-छः साधु ठहरे हुए थे। उन्होंने बताया, कि वसिष्ठ आश्रम के नीचे उतरना खतरे से खाली नहीं है। आगे हिंसक पशु हैं, छोटी-छोटी पगडंडियां हैं पर सांपों से भरी हुई।

उनमें से एक ने बताया— 'इस आश्रम से लगभग दो मील दूर पर एक कुटिया है तथा वहां एक पहुंचे हुए तपस्वी "योगीश्वरानन्द जी" रहते हैं पर उनके दर्शन दुर्लभ हैं। बिरला ही वहां तक पहुंच पाता है और पहुंचकर दर्शन कर पाता है।'

दूसरे दिन प्रातः ही सन्ध्या-वन्दनादि से निवृत्त होकर वसिष्ठ आश्रम से नीचे योगीश्वरानन्दजी की कुटिया की ओर चल पड़ा।

वस्तुतः यह रास्ता अत्यन्त कंटकाकीर्ण, ऊबड़-खाबड़ एवं जन-शून्य है। बिना दृढ़ निश्चय के उधर पांव बढ़ाना खतरे से खाली नहीं। मैं ईश्वर कृपा से लगभग ग्यारह बजे उस कुटिया तक पहुंच गया, यद्यपि

सामान्य जूते होने के बावजूद भी पद रक्तमय हो गए थे।

कुटिया के पास पहुंचा, पर मुझे कोई दिखाई नहीं दिया। कुटिया का द्वार बन्द था। मन सशंकित था, कि द्वार खोलूं या नहीं. . . खड़ा रहा. . . और फिर जूते उतार आगे बढ़कर कुटिया के द्वार खोल दिए, पर आश्चर्य कुटिया में कोई नहीं था।

मैंने इधर-उधर ताका, कुटिया में चारों ओर ताका, मुझे कोई व्यक्ति नजर नहीं आया। तभी कुटिया के भीतर से हुंकार सुनाई दी और धीरे-धीरे कोने में पुरुषाकृति उभरने लगी। कुछ ही क्षणों में एक पूर्ण पुरुषाकृति पालथी मारे उस कुटिया के कोने में स्पष्ट हो गई. . .

– यह था पुण्य स्मरणीय स्वामी योगीश्वरानन्द जी का मुझे प्रथम दर्शन।

मैं कुटिया के द्वार पर ही खड़ा रहा, नमस्कार की मुद्रा में; वे एकटक मुझे ताक रहे थे। विशेषता यह थी, कि उनकी पलकें झपक नहीं रही थीं। बाद में मुझे लगभग महीने भर स्वामीजी के चरणों में रहकर उनकी सेवा करने का अवसर मिला, तब ज्ञात हुआ कि स्वामीजी ब्राह्मण शरीर थे तथा उस समय उनकी आयु लगभग एक सौ अस्सी वर्ष की थी। इतनी अधिक वय होने पर भी उनकी दृष्टि तीक्ष्ण थी, बिना पलक झपकाए निर्निमेष वे घण्टों एक बिन्दु पर ताकते रह सकते तथा वेध-दृष्टि इतनी तीक्ष्ण थी, कि वे दो-तीन फर्लांग दूर के वृक्ष तथा उस पर चलती हुई चींटी तक को देख लेते थे।

उनका पितृवत् स्नेह मुझ पर रहा। उन अट्ठाईस-तीस दिनों में जब वे इहलोक में होते – कई विषयों पर चर्चा चली, जिनमें मुख्य हैं – ध्यान, जप एवं तपस्या। उनका विचार था कि प्रारम्भ में इष्ट-मूर्ति का ध्यान मूर्ति को सामने रखकर ही करना चाहिए, अन्यथा ध्यान बंट जाने का भय रहता है।

पर साथ-ही-साथ उनका यह भी कथन था, कि सच्चा ध्यान तभी सम्भव है, जबकि इष्ट देवता के दर्शन हो जायं। जब तक सही रूप में दर्शन नहीं होंगे, तब तक सही ध्यान हो भी कैसे सकता है। ध्यान देखी हुई वस्तु का ही हो सकता है, कल्पित ध्यान अपने-आप में पूर्ण ध्यान नहीं कहा जा सकता।

स्वामी जी का अधिकांश समय ध्यान में बीतता। मैंने देखा कि अधिकतर वे वायवीय ही रहते थे। अभी-अभी देखा और अभी-अभी गायब – वे अपने-आपको वायु से भी हल्का कर लेते थे, फलस्वरूप उनकी उपस्थिति आभासित ही होती थी, चाक्षुष नहीं। कई बार मैंने उन्हें बातें करते-करते ही अदृश्य होते देखा है और कई बार अदृश्यावस्था में ही उनसे बातचीत होती रही है, आदेश प्राप्त होते रहे हैं।

स्वामी जी के इष्टदेव 'शालिग्राम' थे। एक छोटी-सी काली शालिग्राम की मूर्ति वे अपनी दाहिनी आंख में रखते। कई बार जब वे प्रसन्न होते, तो मेरे सामने अपनी दाहिनी आंख की कोर से अपने इष्टदेव की मूर्ति निकालते, हथेली में रखते तथा घंटों उसे ताकते रहते, न मालूम क्या बुदबुदाते रहते।

उनके पास रक्तिम वस्त्र की एक झोली थी। मैंने पूरी कुटिया में उस झोली व स्वामी जी की लंगोट के अतिरिक्त कोई दूसरी वस्तु नहीं देखी। वह झोली हरदम उनकी बगल में पड़ी रहती, झोली आकार में एक फुट लम्बी व एक फुट चौड़ी थी। परन्तु मैंने जरूरत की सभी चीजें उस झोली में से निकलती देखीं। सुबह से शाम भोजन के वक्त स्वामी जी उसी झोली में से स्वादिष्ट व्यंजन निकालते, यहां तक कि नमकीन व पापड़ भी। स्नान करते वक्त लोटा भी उसमें से निकलता; एक बार मेरी फटी हुई धोती पर उनकी दृष्टि पड़ी, तो नई धोती भी उसी झोली में से निकाल कर मुझे दी थी, जबकि उस झोली के आकार से एक लोटा कठिनता से उसमें समा सकता था या ज्यादा से ज्यादा दो धोती वस्त्र समा सकते थे।

एक बार डायरी में लिखते वक्त मेरा पैन टूट गया, तो नया सुन्दर चमचमाता पैन भी उसी झोली में से निकाल कर मुझे दे दिया था, जो कि आज तक यादगार के रूप में मेरे पास सुरक्षित है।

मंत्रों पर उनका असाधारण अधिकार था। 'वायवीमुद्रा' पर उनका जबरदस्त अधिकार था, जिसके फलस्वरूप वे अपने शरीर को अत्यन्त हल्का कर अदृश्य कर सकते थे।

संकल्प-शक्ति के वे धनी थे। संकल्प शक्ति से वे किसी भी वस्तु का निर्माण कर सकते थे। उनका अनुभव था, कि सच्चे योगी को

संकल्प-विकल्प शून्य होना चाहिए. . . और विकल्प-शून्य संकल्प ही 'सत्य संकल्प' कहलाने का अधिकारी होता है। जब विकल्प ही नहीं होगा, तो संकल्प अर्थमय होगा ही और अर्थमय संकल्प वास्तविक सृष्टि करने में समर्थ है। स्वामीजी अपनी झोली से जिन मनोवांछित पदार्थों को निकालते थे, वे इसी 'विकल्प शून्य संकल्प' का परिणाम था। संकल्प मात्र से किस प्रकार वस्तुओं का निर्माण होता है, इसे कई बार मुझे देखने का अवसर मिला।

यह मेरा सौभाग्य है, कि साधना के प्रथम चरण में ही इतने महान एवं अलभ्य योगी के चरणों में बैठकर कुछ सीखने व समझने का अवसर मिला। वायवीमुद्रा का ज्ञान भी उन्हीं से प्राप्त हुआ और आगे के वर्षों में कुछ साधा भी, पर गृहस्थ में मैं इस पथ पर अनवरत रूप से न चल सका। आज भी इच्छा होती है, कि एक बार फिर प्रकृति की गोद में बैठ जाऊं– पूर्वाग्रह से मुक्त हो एवं वायवीमुद्रा साधना कर लूं. . . पर देखें ईश्वर कब अवसर देता है. . . कई बार यह भी इच्छा होती है, कि किसी योग्य शिष्य को यह सब कुछ सिखा दूं. . . पर योग्य शिष्य भी बिना भाग्य के मिलना सम्भव कहां है?

स्वामी जी से ही पहली बार कुण्डलिनी जागरण के बारे में मात्र दर्शन किया था। उन्होंने ही एकस्थ ध्यान-मुद्रा सिखाई थी। उन्हीं की कृपा से मैं 'विकल्प-शून्य संकल्प' पथ पर बढ़ सका था और आज भी उनका यह ज्ञान मेरे लिए वरदान-स्वरूप है, मैं उनका कृतज्ञ हूं।'

लगभग महीने भर बाद वे बोले– 'नारायण! अब चले जाओ।'

. . . 'तुम्हारे पथ का यह प्रारम्भ है, अन्त नहीं है।'

. . . 'तुम्हारा भविष्य उज्जवल है।'

. . . 'मुझसे ऊंचा व्यक्तित्व तुम्हारा आवाहन कर रहा है, अब तुम्हें चले जाना चाहिए।'

. . . 'और न तो इस सम्बन्ध में किसी से जिक्र करना चाहिए और न तुम्हें लौटकर इधर आना चाहिए।'

पहली बार. . . सम्भवतः पहली बार मैं यह सुनकर हुमक-हुमक कर रोया था। एकबारगी ऐसा लगा था, कि जैसे स्वामी जी मुझे ब्रह्मलोक से नरक में धकेल रहे हैं. . . पर वे त्रिकालदर्शी थे, अपने से ऊंचे व्यक्तित्व के बारे में उन्होंने जो कहा था, वह आगे चलकर स्वामी सच्चिदानन्द जी का स्नेह पाकर सत्य सिद्ध हुआ। उनकी आज्ञा आज्ञा थी, रुकने का कोई प्रश्न ही नहीं था।

मैंने स्नान किया, उनकी परिक्रमा की. . . और भरी आंखों से अंजली पसारकर उनके सामने बैठ गया। अपने पूर्ण शरीर को समर्पण मुद्रा में आकार देकर. . . उनका दाहिना हाथ मेरे सिर पर था. . . और आंखें. . . निर्निमेष। उनका व्यक्तित्व मेरी आंखों के माध्यम से हृदय में उतरता जा रहा था, फिर उन्होंने झोली में से शालिग्राम की सुन्दर मूर्ति निकालकर मुझे दी इष्ट देवता के रूप में. . . और अन्तर्धान हो गये। उन क्षणों में न तो वे कुछ बोले. . . और न ही मैं कुछ बोल सका था. . . पर फिर भी मौन संभाषण के रूप में वे सब कुछ कह गये थे।

स्वामीजी द्वारा प्रदत्त शालिग्राम-मूर्ति मेरे पास है– अद्भुत वरदायक– आश्चर्यजनक सफलता युक्त।

शालिग्राम की मूर्ति को ज्यों ही मैंने स्पर्श किया, तो एकदम एक विद्युत स्फुलिंग सा प्रकट हुआ, ऐसा लगा कि मैंने प्रकाश के स्रोत को छू लिया है और फिर ऐसा लगा जैसे मैं अत्यन्त वेगवान गति से पूरे ब्रह्माण्ड में विचरण कर रहा हूं और उसी विचरण अवस्था में मुझे एक दिव्य देवता के दर्शन हुए, ऐसा लगा कि एक तेजपुञ्ज सामने खड़ा है, ऐसा लगा कि हिमालय अपना गर्वोन्नत भाल लिए खड़ा है, ऐसा लगा कि उनकी आंखों में अत्यधिक करुणा और ममत्व है, ऐसा लगा कि उनके होठों पर समस्त वेद नृत्यमय हों, ऐसा लगा कि उनके शरीर के रोम-रोम से करुणा, स्नेह और ममत्व की सरिता प्रवाहित हो रही है। वे समस्त देवताओं का पुञ्जीभूत स्वरूप लग रहे थे और उनको देख कर मेरा सिर श्रद्धानत हो गया . . . और वह मूर्ति मेरी आंखों में हमेशा हमेशा के लिए बस गयी।

– और ठीक वही मूर्ति साकार रूप में मेरे सामने स्पष्ट हुई, जब मैं स्वामी सच्चिदानन्द जी का शिष्य बना।

इसके करीब सात साल बाद– सदियों में, स्वप्न में उनके दर्शन

हुए थे, जैसे वे मुझे बुला रहे हों। मैं प्रातः उठा और आबू जाने की तैयारियां करने लगा। ट्रेन निकल गई थी, बस में बैठा. . . और सायंकाल आबू पहुंच गया। रात्रि को ही यात्रा आरम्भ कर दी। लगभग रात के एक बजे मैं वहां पहुंचा जहां स्वामी जी लेटे हुए थे। कुटिया के बाहर, पास में कोई नहीं था, मेरे पहुंचते ही बिना गरदन घुमाए लेटे-लेटे ही पूछा–

'आ गये!'

– 'जी. . .'

– 'अभी प्रभुपाद भी आता होगा।'

मैं पूछ न सका, कि प्रभुपाद कौन? तभी भगवे वस्त्र पहने, तीस-बत्तीस की वय का तेजस्वी नवयुवक आता दिखायी दिया। उसने आते ही स्वामी जी के चरण छुए– स्वामी जी बोले नहीं।

नवयुवक पालथी मारकर चरणों की ओर बैठ गया। मैं भी पास में जा बैठा, नवयुवक को मैं पहचान नहीं पा रहा था, पर वह संभवतः मुझे पहचानता था, बोला– 'नारायण!'

– 'हूं!'

स्वामीजी की समाधि भंग हुई, शायद वे शरीर त्यागने का उपक्रम कर रहे थे, बोले– 'दोनों मेरे दायें-बायें बैठ जाओ।'

मैं दाहिनी ओर जा बैठा।

उन्होंने कहा– 'मेरे प्राण छूट नहीं रहे हैं, चार दिन से संघर्ष कर रहा हूं, अब इस जर्जर काया को छोड़ना चाहता हूं। मैं अन्तर्दृष्टि ज्ञान 'गुह्निनी ज्ञान' तुम दोनों को देना चाहता हूं। अपने साथ इस ज्ञान को नहीं ले जा सकता।'

– और सारी रात वे इस ज्ञान को देते रहे, समझाते रहे। अपने सामने साधना का प्रथम चरण कराया और अंतिम चरण उनकी भस्मी के सामने बैठकर करना था. . . सूर्योदय का भूमि-स्पर्श होते ही वे ब्रह्मलीन हो गये. . . मेरा आहत हृदय क्रन्दन कर उठा. . . हम दोनों बिलख पड़े. . .

– पर प्रभुपाद वज्रहृदय था, उसने अपने आन्तरिक दर्द को छुपाए रखा, स्वामी जी की आज्ञानुसार ही प्रभुपाद ने दाह-संस्कार किया। साधना का अंतिम

चरण पूर्ण किया और उनकी भस्मी को मानसरोवर में विसर्जित करने के लिए प्रभुपाद वह भस्मी लेकर पांचवें दिन रवाना हो गया। उस के बाद प्रभुपाद से पुनः मिलना सम्भव न हो सका, पर आज भी स्मरण करने पर स्वामी जी द्वारा संकेत प्राप्त हो जाते हैं, यह उनकी असीम कृपा है।

खैर! काफी बाद की बात कह गया। इससे पहले उन्हीं दिनों स्वामी जी से आशीर्वाद प्राप्त कर मैं हरिद्वार चला गया और लगभग पन्द्रह दिनों तक पूज्या भगीरथी के सम्पर्क में रहा। ऋषिकेश आदि घूमता रहा, पर मन उद्विग्न था, शान्ति नहीं मिल रही थी. . .

फलित-ज्योतिष

ऋषिकेश में मैं प्रातः लक्ष्मण झूले के पास स्थित श्री राम-मंदिर के दर्शन कर बाहर आ रहा था, कि मुझे सामने से आते हुए धवलकेशी सन्त दिखाई दिये। बाद में पता चला कि उनका नाम "क्किंकर बाबा" था। वे दर्शन कर जंगल की ओर मुड़ गये, मैं उनके पीछे हो लिया। लगभग मील-भर दूर ही उनकी कुटिया थी, वृद्ध होते हुए भी उनकी चाल तेज थी और मुझसे बराबर उतनी ही दूरी पर बने रहे, जितने चलते वक्त थे। जब वे कुटिया पर पहुंचे, तो संकोच के साथ सात-आठ मिनट बाद मैं भी कुटिया पर पहुंच गया। कुटि   । मिट्टी से बनी, ताजी लिपी हुई, शुद्ध, स्वच्छ व पवित्र थी। वहां जाते ही ऐसा लगा जैसे किसी पूर्ण आध्यात्मिक क्षेत्र में आ गया हूं। मन प्रसन्न हो गया, सारी थकावट जाती रही।

मैंने अपने जीवन का उद्देश्य बताया। अपने बारे में संक्षिप्त परिचय दिया और भावी मार्गदर्शन चाहा। स्वामीजी लगभग पचहत्तर-अस्सी वर्ष के थे, पर शरीर पुष्ट था, मुंह में बत्तीसों दांत थे और आंखों में चमक थी, मेरे कह चुकने पर वे कुछ देर तक तो बोले नहीं, फिर धीरे से कहा– 'मैं तो साधारण मनुष्य हूं।'

– 'मुझे भी आपसे शतांश ही सही, आप-सा साधारण मनुष्य बना

लें, यही इच्छा है।'

स्वामीजी हस्तरेखा, ज्योतिष व आयुर्वेद के प्रकाण्ड पण्डित थे। सही अर्थों में ज्योतिष व हस्तरेखा के माध्यम से वे त्रिकालदर्शी थे — ऐसा कहूं तो कोई अतिशयोक्ति न होगी। उनकी साधारण वेशभूषा, रहन-सहन देखकर कोई अनुमान भी नहीं लगा सकता, कि इस साधारण वेशभूषा में ज्योतिष का अथाह सागर ठाठें मार रहा है।

यह मेरा सौभाग्य था कि उन्होंने कुटिया में रहने की मुझे स्वीकृति दे दी, पर मेरे भोजन आदि के लिए किसी व्यवस्था की स्वीकृति न तो उन्होंने दी और न मैंने इस सम्बन्ध में उन्हें कष्ट दिया। प्रातः सूर्योदय तक वे नित्य-पूजा से निवृत्त हो जाते, तब तक मैं भी सन्ध्या-वंदन से निवृत्त होकर उनके चरणों में बैठ जाता। भारतीय ज्योतिष के हजारों श्लोक उन्हें कंठस्थ थे, जो किसी भी पुस्तिका में न तो संग्रहीत हैं और न संकेतक भी। उन्होंने महीने भर में सैकड़ों श्लोक मुझे लिखाये, जो फलित ज्योतिष के आधार-सूत्र हैं।

जन्म-कुण्डली से ही गर्भ शोधन कर सेकेण्ड तक के जन्म-समय को शुद्ध करना उन्होंने ही सर्वप्रथम मुझे सिखाया, गर्भ-कुण्डली तथा बीज-कुण्डली का निर्माण उन्होंने ही मुझे बताया। उनके अनुसार जन्म-कुण्डली स्थूल है और गर्भ-कुण्डली सूक्ष्म है। जिस क्षण माता-पिता का संगम होकर बीजारोपण होता है, वह बीज-क्षण ही सही फलित की प्रथम सीढ़ी है, इसके बाद जिस क्षण उस मांसपिण्ड में प्राण-संचार होता है (माता के गर्भ में ही) उस क्षण का भी जीवन के फलादेश के लिए काफी महत्त्व है, अतः सूक्ष्म भविष्यफल के लिए गर्भ-कुण्डली, प्राण-कुण्डली एवं जन्म-कुण्डली तीनों का ही महत्त्व है, और जन्म-कुण्डली से ही गर्भ-कुण्डली एवं प्राण-कुण्डली का निर्माण किया जा सकता है, यह विधि भी उन्होंने ही सबसे पहले मुझे समझाई।

उन्होंने जो श्लोक मुझे लिखाये, बाद में काफी ढूंढ़ने पर भी वे श्लोक मुझे किसी भी प्रकाशित-अप्रकाशित ग्रंथ में नहीं मिले. . . पर वह एक-एक श्लोक अपने-आप में भविष्यफल के गहरे अर्थ संजोये हुए हैं। उनके द्वारा लिखाये गये सवा पांच सौ श्लोक अद्भुत हैं, आश्चर्यजनक हैं, फलित ज्योतिष के कीर्तिमान हैं— मुझे सही भविष्यवाणी करने एवं फलित ज्योतिष के क्षेत्र में जो किंचित यश एवं सम्मान मिला है, उसके मूल में पूज्य स्वामी जी का आशीर्वाद, उनके द्वारा प्रदत्त ज्ञान एवं श्लोक हैं, जो उन्होंने मुझे लिखाये हैं, इस सम्बन्ध में मैं पूज्य स्वामी जी का चिर-ऋणी हूं. . . और रहूंगा।

अगर ईश्वर ने चाहा और स्वास्थ्य ने साथ दिया, तो अवश्य इन श्लोकों को तथा इनका अन्वय व अर्थ कर पाठकों को भेंट करूंगा। यह भेंट ज्योतिष-जगत के लिए मेरी भावपूर्ण पुष्पांजलि होगी।

मेरे जीवन से हजारों हस्तरेखाविद् निकले हैं, पर इन स्वामी जी के पास हस्तरेखा-ज्ञान का असीम भण्डार था, छोटी-से-छोटी रेखा तक का नामकरण था और इन रेखाओं के परस्पर संयोग आदि योगों की नामावली थी। जितने सुन्दर तरीके से उन्होंने इस ज्ञान का कुछ अंश मुझे दिया, वह मेरे जीवन की अमूल्य निधि है। उनके पास एक अद्भुत विधि थी, मात्र मध्यमा उंगली से जन्म-तिथि निकाल देना, जन्म-समय स्पष्ट कर देना और अक्षांश-देशान्तर के माध्यम से जन्म-स्थान का उल्लेख कर देना। गुरु-भेंट के रूप में उन्होंने वह ज्ञान मुझे दिया और इसके लिए मैं आज भी उनका कृतज्ञ हूं।

काफी वर्षों बाद मेरे प्रिय ऐधा के श्री जयप्रकाश श्रीवास्तव जी ने भी एक बार बताया था, कि उन्हें चित्रकूट में एक साधु मिले थे, जो मध्यमा उंगली से जन्म तारीख निकाल लेते हैं और उन साधु से उसने सीखने का भी प्रयत्न किया था।

एक दिन प्रातः जल्दी में मैं भगवती भगीरथी के स्नान को गुरु-आज्ञा से चला गया था। सूर्योदय होते-होते जब मैं कुटिया के द्वार पर आया, तो देखा कि स्वामी जी बिल्व-वृक्ष के नीचे ध्यानस्थ बैठे हैं और उनके मुंह से मधुर मंद घोष से 'सौन्दर्य-लहरी' का श्लोक प्रस्फुटित हो रहा था—

गतेर्माणिक्यं गगन मणिभिः सान्द्र घटितं,
किरीटं ते हैमं हिमगिरि सुते कीर्तयति यः।
स नीडेच्छाया च्छुरण शबलं चन्द्र शकलं;
धनुः शौनासीरं किमिति न निबध्नाति धिषणम्।।

धनोतु ध्वान्तं नस्तुलित दलितेन्दीवर वनं,
घनस्निग्धं श्लक्ष्णं चिकुर निकुरलम्बं तव शिवे।
शदीयं सौरभ्यं सहज मुपलब्धुं सुमनसो;
वसन्त्यस्मिन्यम्न्ये बलमथन वाटी विटपिनाम्।।

— सौन्दर्य अपने आप में जीवन की पूर्ण परिभाषा है, जीवन का उत्साह है। सही अर्थों में देखा जाय तो जीवन का मधुरिम नृत्य है, सौन्दर्य अपने आप में गति है, सौन्दर्य आंखों को बांध लेने की सम्मोहन क्रिया है, सौन्दर्य देवताओं द्वारा दिया हुआ वरदान है, सौन्दर्य करोड़ों-करोड़ों हीरे-मोतियों से भी ज्यादा मूल्यवान है, इस प्रकार का सौन्दर्य उसे प्राप्त होता है, जिसके कई-कई जन्मों के पुण्यों का अभ्युदय होता है। वास्तव में सौन्दर्य शीतल छाया और जीवन के पाप-ताप, दोष-दुःख को मिटाने की कला और एक साधारण मनुष्य को पूर्णता देने की प्रक्रिया है; सौन्दर्य से मूल्यवान और कुछ भी इस पृथ्वी पर है ही नहीं।

पूरा वातावरण प्रकृति-सुख से पूरित हो गया। इतना मधुर स्वर, उस शान्त प्रकृति में सहज-सौम्य रूप से, बिना भाग्योदय के सुनना सम्भव नहीं।

— तभी एक वृद्ध व्यक्ति कुटिया से बाहर आता दिखाई दिया। मैंने इस नवागन्तुक को पहचाना नहीं, पिछले बीस दिनों में भी मैंने उसे वहां देखा नहीं था। मैं स्वामी जी के पास पालथी मारकर बैठ गया और अजस्र प्रवहमान काव्य-रसधारा का श्रवण करता रहा। वह वृद्ध व्यक्ति भी मेरे पास आकर विनीत भाव से बैठ गया। अब मैंने उसे ध्यान से देखा, लगभग साठ-पैंसठ वर्ष का वृद्ध व्यक्ति, मगर फिर भी सीधी कमर कर चलने वाला, आंखों में चमक पर चेहरे पर वृद्धता की छाप एवं सलवटें, हाथों पर भी झुर्रियां पड़ने लग गई थीं, ऐसा लगता था जैसे उस व्यक्ति ने काफी कुछ भोगा था. . . वह शान्त था।

करीब पन्द्रह-बीस मिनट के बाद स्वामीजी ने आंखें खोली वृद्ध को देखते ही वे खिल उठे— 'कहो शंकर! प्रसन्न हो।'

वृद्ध ने उठकर स्वामीजी के चरणों में सिर रखा, आशीर्वाद लिया

और पुनः अपने स्थान पर मौन बैठ गया।

— क्यों, शंकर! पूरे आठ साल बाद मिल रहे हो।

— वृद्ध कैसे हो गए हो!

— चेहरे पर झुर्रियां कैसे पड़ गई हैं!

— बाबाजी तो प्रसन्न हैं न?

वृद्ध व्यक्ति ने पहाड़ी भाषा में उत्तर दिया, जिसे मैं पूर्णतः तो नहीं समझ सका, पर इतना आशय अवश्य समझ गया, कि वह वृद्ध व्यक्ति स्वामीजी को लेने आया है, बाबाजी ने बुलाया है। ज्ञात करने पर पता चला कि बाबाजी स्वामीजी के गुरु हैं तथा मिलने के लिए बुलाया है। वे काफी दूर हिमाच्छादित पहाड़ों में रहते हैं, वह वृद्ध व्यक्ति बाबाजी का सेवक है।

— 'पर शंकर! तुझ पर वृद्धत्व हावी हो रहा है, आज ही मैं तेरा कायाकल्प करूंगा. . . आज तू बाटिया और दाल बनायेगा, हम दोनों भोजन करेंगे। सामग्री कुटिया में पड़ी है, मैं बाहर जा रहा हूं, लगभग दो-तीन घंटों में लौटूंगा।

— इतना कहते-कहते स्वामीजी उठ खड़े हुए और सवेग एक ओर बढ़ गये।

शंकर अत्यन्त मितभाषी था, फिर भी समस्या यह थी, कि उसे पहाड़ी बोली के अतिरिक्त दूसरी कोई भाषा आती नहीं थी। संकेतों से ही बाबाजी के बारे में जितना जान सका, जान सका।

आज्ञा-पालनार्थ उसने कुटिया के बाहर चौका लगाया, कंडे बीनकर 'खे' लगाई तथा गेहूं का आटा मथकर गोल-गोल 'बाटिया' बनाये। एक अलग पत्थर के चूल्हे पर मूंग-चने की दाल चढ़ाई।

लगभग साढ़े ग्यारह बजे स्वामीजी आये, तब तक बाटिया एवं दाल बन चुकी थी। स्वामीजी के हाथ में लगभग नौ-दस इंच लम्बी किसी पहाड़ी पौधे की जड़-सी थी।

तीनों के लिए अलग-अलग भोजन परोसा। एक कटोरे में शंकर के लिए जो दाल डाली थी, उसमें वह जड़ घुमाते रहे और जड़ गलती हुई दाल में मिलने लगी. . . दाल का रंग गहरा पीला हो गया था. . . जड़

घिस चुकी थी, बाकी जड़ स्वामी जी ने पीछे की तरफ
लगभग चार इंच घिस चुकी थी, बाकी जड़ स्वामी जी ने शंकर को खाने के लिए दे दी।
फेंक दी और वह दाल स्वामीजी ने शंकर को खाने के लिए दे दी।

दाल में बाटिया चूर कर शंकर वह सब दाल खा गया। हम भी भोजन कर चुके, बरतन साफ कर कुटिया में रख दोपहर को ही स्वामीजी के संकेत पर वन में घूमने निकल पड़े। लगभग चार घंटे निरुद्देश्य घूमते रहे, पता नहीं स्वामीजी का क्या प्रयोजन था, सम्भवतः भोजन के बाद शंकर के लिए चलना आवश्यक था, तभी वह जड़ असर करती या और कोई बात होगी!

पर मेरे जीवन का महान् आश्चर्य, कि चार-साढ़े चार घंटे बाद जब हम कुटिया पर आये तब तक शंकर के चेहरे की काफी सलवटें मिट चुकी थीं, सुबह तक तो हाथों की झुर्रियां ढूंढ़ने पर भी दिखाई नहीं दे रही थीं, सिर के तथा भौंहों के बाल पूर्णतया सचिक्कण काले हो चुके थे. . . और पूरे शरीर पर वृद्धत्व का कोई चिन्ह बाकी नहीं रहा था. . . एक प्रकार से पूरा कायाकल्प हो चुका था। उसके शरीर की सुस्ती समाप्त होकर वह चुस्ती अनुभव करने लगा था। चेहरे पर ललाई आ गई थी और एक विशेष प्रकार की दमक शंकर के चेहरे पर स्पष्टतः देखी जा सकती थी।

शाम को छः बजे स्वामीजी शंकर के साथ चलने को तैयार हो गये। मैं अभी और दो-चार महीने स्वामीजी के साथ रहना चाहता था, पर वे स्वयं जा रहे थे. . . मैंने साथ चलने की हठ की, पर स्वामीजी ने मना कर दिया – 'बिना गुरु जी की आज्ञा के मैं तुम्हें वहां नहीं ले जा सकता।' मुझे आशीर्वाद दिया और शंकर के साथ चल पड़े।

मैं अकेला रह गया।

उनके कायाकल्प का प्रयोग अद्भुत था। मैंने उस बची हुई जड़ को ढूंढने का प्रयास किया, पर वह नहीं मिली। उस रात मैं उसी कुटिया के बाहर सोया। दूसरे दिन चार-छः घंटे उस जड़ के टुकड़े को खोजने में बिताये पर वह टुकड़ा नहीं मिला। स्वामी जी ने कोई दूर भी नहीं फेंका था. . . पर 'भाग्य बिना नर पावत नाहीं. . .' मैं उस टुकड़े को प्राप्त न कर सका, न स्वामीजी से इस बारे में कुछ पूछ सका. . .

मुझे विश्वास है, कि यदि स्वामी जी का दो-तीन महीने और सत्संग मिलता, तो निश्चय ही वे इस कायाकल्प का रहस्य भी मुझे समझा देते, पर. . . शायद वह मेरा सबसे अधिक दुर्भाग्यपूर्ण दिन था, जिस दिन मैं स्वामी जी से बिछुड़ा था।

निश्चय ही भारतीय जड़ी-बूटियां अद्भुत हैं। यह घटना मेरी आंखों के सामने गुजरी है। भारतीय वैद्यों-चिकित्सकों के लिए यह चुनौती है, कि वे इस जड़ की खोज करें। यह गंगातट से बीस-पचीस मील से दूर की वस्तु नहीं, दाल में घुलती है और दाल का रंग गहरा पीला हो जाता है. . . पर यह इसका संकेत मात्र है।

– काश! मैं यह विद्या उनसे सीख पाता! पर 'ज्योतिष' एवं 'सामुद्रिक शास्त्र' में उन्होंने जो मुझे ज्ञान दिया, वह अलभ्य है, मेरा रोम-रोम इसके लिए स्वामीजी का कृतज्ञ है।

शिवोऽहं शंकरोऽहम्

स्वामीजी की कुटिया से चलकर पुनः हरिद्वार आ गया और लगभग दस दिनों तक वहां रहा। गंगाघाट पर सायं एक महात्मा का प्रवचन चल रहा था। मैं नित्य प्रवचन में जाता, पर मन को शांति नहीं मिल रही थी। बार-बार हृदय में कचोट उठती, कि एक हीरा भाग्य से हाथ लगा था, वह भी निकल गया. . .।

एक दिन शाम को अनमना सा मैं गंगातट पर घूमते घूमते काफी दूर निकल गया, थक गया था, अतः एक पत्थर शिला पर बैठ गया। कुछ ही समय बाद क्लान्त-सा थककर वहीं लुढ़क गया और नींद आ गई, न मालूम कितनी देर तक मैं सोता रहा. . . उस समय आकाश में तारे छिटक आये थे। हाथ पर बंधी घड़ी पर दृष्टि डाली, तो लगभग रात्रि के दो बज रहे थे।

नींद में ही मुझे स्वप्न आया था . . . और अब मैं जाग्रतावस्था में उस स्वप्न के फलितार्थ पर ही विचार कर रहा था। स्वप्न में मैंने देखा कि एक भगवा वस्त्रधारी साधु मुझे गंगा के उद्गम की ओर चलने के लिए प्रेरित कर रहा है . . . और मैं कुछ कदम उसके साथ चला भी, पर ठोकर खाकर गिर पड़ा। वापस उठा, तो देखा कि वह साधु तीव्र-गतिशील कदम

आगे खड़ा अपने पीछे आने का संकेत कर रहा है. . . और मेरी आंख खुल गई। पास में मेरी थैली थी, जिसमें दो वस्त्र थे, दो वस्त्र पहने हुए थे, थैली में लोटा था। उठा, शीतल गंगा के जल से लोटा भरा, मुंह धोया, स्नान करने की इच्छा हुई, कपड़े खोलकर मल-मलकर नहाया. . . और काफी देर तक गंगा के जल में बैठा रहा, मन को शांति-सी मिली, कपड़े बदले, मस्तिष्क में अभी तक स्वप्न घूम रहा था. . . मैंने गंगा के उद्‌गम की ओर जाने का निश्चय कर लिया. . . ध्यानस्थ हुआ, और जब अन्तर्मन ने आज्ञा दे दी, तो उठकर उसी समय अजाने पथ पर चल पड़ा. . . बिना हिचक के. . . बिना भय के. . . निडर. . . निर्द्वन्द्व. . . निर्भय. . .।

मार्ग में मैंने कभी भी किसी गृहस्थ के यहां से पका-पकाया अन्न ग्रहण नहीं किया। जब भी एक या दो रोज में भूख लगती और क्षुधा तीव्र हो जाती, तब मैं एक या दो स्थानों से आटा स्वीकार करता और गांव के बाहर आकर एक या दो रोटी पकाता तथा प्रभु-प्रसाद समझकर ग्रहण कर लेता।

कई बार ऊलजलूल विचार दिमाग में आते – 'कहां फंस गया हूं, अच्छी तरह से खाता-कमाता था, गृहस्थ में था, बच्चे थे, मां थी. . . और उन सबको छोड़कर इस प्रकार जंगल-जंगल भटकना क्या अनुकूल है. . . सारी दुनिया आनन्द में मग्न है, फिर मैं ही क्यों भटक रहा हूं।'

तभी पत्नी का चेहरा आंखों के समाने घूम जाता, उसके शब्द नई प्रेरणा देते – 'जीवित तो लाखों-करोड़ों हैं, फिर इस प्रकार जीवित रहना भी क्या कोई जीवन है. . . आपका पृथ्वी पर जन्म केवल जिन्दगी जीकर मर जाने के लिए ही नहीं है, कुछ करके देने के लिए है, समाज को कुछ सौंपकर जाने के लिए है, आपका लक्ष्य होना चाहिए और उस तरफ निरन्तर बढ़ते रहना चाहिए, फिर भले ही कोई जरूरी नहीं, कि आप अपने लक्ष्य तक पहुंच ही जाएं। ईमानदारी के साथ लक्ष्य की ओर कदम बढ़ाते रहना ही मनुष्य का कर्त्तव्य है।'

– उसकी ये बातें मुझे कर्त्तव्य बोध करा देतीं और मैं पुनः आत्मा में जोश भरकर आगे बढ़ जाता।

हरिद्वार तथा गंगोत्री के बीच गंगा से जरा हटकर एक गांव है – 'मंडेणा' या 'मंडेतणा'। गांव के बाहर ही एक शिवालय है। मैं वहीं ठहर गया। इसी शिवालय में एक नागा बाबा रहते थे – आयु होगी लगभग अस्सी से ज्यादा, सारे शरीर में भभूत रमाई हुई, वे वहां नागा बाबा के नाम से ही विख्यात थे। ऊपर से दिखने में वे साधारण मानव नग रहे थे, पर उनकी आंखों की चमक इस बात की साक्षी थी, कि वे सिद्ध बाबा हैं। आसपास – उनके बारे में सद्‌विचार थे, यह मैंने बाद में जाना।

मैं उसी शिवालय में ठहर गया। गांव से बाहर एक मील दूर यह शिवालय था, पास ही पक्का कुआं था। मैं जब पहुंचा, उस समय लगभग सूर्यास्त हो रहा था। रात्रि को गांव के कुछ लोग वहां सत्संग के लिए आते। ग्रामीणों द्वारा प्रश्न पूछने पर वे 'हूं' में या अत्यन्त संक्षिप्त-सा उत्तर देते, बहुत कम बोलते तथा अहर्निश धूनी लगाये रहते।

इनका वास्तविक नाम मालूम नहीं हो सका। लोग इन्हें साधारण साधु ही समझते थे, पर थे वे दिव्य विभूति; अपने अखण्डानंद में हमेशा मग्न रहते।

मैंने जब शिवालय में ठहरने की इच्छा प्रकट की, तो आंखों के संकेत से इन्होंने ठहरने की अनुमति दे दी।

रात्रि को दस-बारह लोग आये। बाबाजी धूनी के पास बैठे थे, इधर-उधर की बातें चलती रहीं। ग्रामवासियों ने मुझे शंका की दृष्टि से देखा। एक ग्रामीण ने कहा भी – 'ध्यान रखना, बाबा के यहां से कुछ भी चोरी चला गया, तो हम तुम्हें जीता नहीं छोड़ेंगे।'

बाबाजी कुछ नहीं बोले, मात्र हंस दिये।

रात को मैं सो गया। प्रातः उठकर स्नान-सन्ध्यादि से निवृत्त होकर बाबा के चरणों में प्रणाम किया। नागा बाबा ने आशीर्वाद तक न दिया, सजग निश्चल बैठे रहे. . . मैं भी पास बैठा रहा, बैठे-बैठे लगभग एक बज गया, धूप तेज हो गई, पर न तो बाबा वहां से उठे और न मुझे कुछ कहा. . . मैं पुनः प्रणाम कर उठा, गांव से कुछ आटा ले आया, भोजन पकाया, बाबाजी से भोजन के लिए आग्रह किया, पर न तो उन्होंने स्वीकृति दी और न अस्वीकृति ही. . . एक बार फिर भोजन के लिए आग्रह किया, तो उन्होंने मना कर दिया। मैंने भोजन किया, शिवालय को स्वच्छ किया,

धोया तथा शिव पर अजस्र जलधार गिराते हुए अभिषेक किया। लगभग
तीन बजे के आसपास बाबाजी उठकर शिवालय के बाहर गये और दो घंटे
के बाद लौटे। आकर एक वृक्ष के नीचे लेट गये। दिन बीत गया, पर उनसे
किसी भी प्रकार की कोई बात नहीं हुई।

इस प्रकार पांच दिन बीत गये। पांच दिनों में उनसे एक बार भी
बात नहीं हुई थी। मैं बुरी तरह ऊब गया, शायद वे मेरे धैर्य की परीक्षा
ले रहे थे, पर इसकी भी हद होती है। मेरे लिए समय की कीमत थी. . . और समय
इस प्रकार निरुद्देश्य बीतता गया, तो फिर क्या फायदा?

एक दिन प्रातः शिवार्चन कर मैं शिवालय में बैठा सस्वर
'चन्द्रशेखराष्टक' का पाठ कर रहा था—

रत्न सानुशरासनं रजताद्रिशृंग निकेतनं,
सिंजिनी कृत पन्नगेश्वर मच्युतायनसायकम्।
क्षिप्रदग्ध पुरत्रयं त्रिदिवालयै रभिवन्दितं,
चन्द्रशेखर माश्रये मम किं करिष्यति वै यमः।।

पंच पादप पुष्प गन्ध पदाम्बुज द्वय शोभितं,
भाल लोचन जात पावक दग्ध मन्मथ विग्रहम्।
भस्म दिग्ध कलेवरं भव नाशनं भव मव्ययं,
चन्द्रशेखर माश्रये मम किं करिष्यति वै यमः।।

मत्तवारण मुख्य चर्म कृत्तोत्तरीय मनोहरं,
पंकजासन पद्मलोचन पूजितांघ्रिसरोरुहम्।
देव सिन्धु तरंग सीकर सिक्त शुभ्र जटाधरं,
चन्द्रशेखर माश्रये मम किं करिष्यति वै यमः।।

यक्षराज सखा भगाक्षहरं भुजंग विभूषणं,
शैलराज सुता परिष्कृत चारुवाम कलेवरम्।
क्ष्वेड नील गलं परश्वध धारिणं मृगधारिणं,
चन्द्रशेखर माश्रये मम किं करिष्यति वै यमः।।

कुण्डलीकृत कुण्डउलेश्वर कुण्डलं वृषवाहनं,
नारदादि मुनीश्वर-स्तुति वैभवं भुवनेश्वरम्।
अन्धकान्धक माश्रितामर पादपं शमनान्तकं,
चन्द्रशेखर माश्रये मम किं करिष्यति वै यमः।।

भेषजं भव रोगिणा मखलापदामपहारिणं,
दक्ष यज्ञ विनाशनं त्रिगुणात्मकं त्रिविलोचनम्।
भुक्ति मुक्ति फलप्रदं सकलाघसंघ निवर्हणम्,
चन्द्रशेखर माश्रये मम किं करिष्यति वै यमः।।

भक्त वत्सल मर्जित निधि मक्षयं हरिदम्बरं,
सर्वभूतिपतिं परात्परम् अप्रमेय मनुत्तमम्।
सोम वारिद भू हुताशन सोमपानि लखाकृतिं,
चन्द्रशेखर माश्रये मम किं करिष्यति वै यमः।।

विश्वसृष्टिविधायिनं पुनरेव पालन तत्परं,
संहरन्त मपि प्रपंचमशेष लोक निवासिनम्।।
क्रीडयन्तमहर्निशं गणनाथ यूथ समन्वितं।
चन्द्रशेखर माश्रये मम किं करिष्यति वै यमः।।

मृत्युभीत मृकण्डूसूनु कृतस्तवं शिव-सन्निधौ।
यत्र कुत्र च यः पठन्न हि तस्य मृत्युभयं भवेत्।।
पूर्णमायुर रोगितामखिलार्थ सम्पदमादरं।
चन्द्रशेखर एव तस्य ददाति मुक्ति प्रयत्नतः।।

चन्द्रशेखर चन्द्रशेखर चन्द्रशेखर पाहि माम्।
चन्द्रशेखर चन्द्रशेखर चन्द्रशेखर रक्षमाम्।।

मैंने आंखें खोलीं तो देखा, सामने ही शिवलिंग के पास नागा बाबा
विराजे हैं, प्रसन्न मुद्रा में. . . मुझे चुप होते देख बोले— 'वाह! सुन्दर. . . अति
सुन्दर. . . एक बार फिर गाओ. . . तृप्ति नहीं हुई।'

मैंने पुनः आंखें बंद कर लीं और चन्द्रशेखराष्टक का एक बार पुनः पाठ किया। वे उसी अतृप्त श्रोता की तरह राग-रस पीते रहे. . .

थोड़ी देर बाद उनकी आंखें खुलीं, बोले – 'क्या नाम है तेरा?'

'नारायण' – संक्षिप्त-सा उत्तर दिया मैंने।

– 'मुझे ज्ञात है, उठ बाहर आ . . .'

– और मेरा हाथ पकड़ कर शिवालय के बाहर उसी स्थान पर ले आये, जहां एक दिन पहले वे लेटे थे।

– 'तू यहां क्या कर रहा है? देख, तेरी मां बीमार है और तू यहां भटक रहा है. . . इधर आ. . .'

मैं उनके पास जा बैठा। वे 'नख-दर्पणादि खण्ड विभूति' में निष्णात थे। उन्होंने अपने दाहिने हाथ का अंगूठा मेरे सामने कर दिया, अंगूठे का नख दर्पण की भांति चमक रहा था, और मैं उस दर्पण में देख रहा था. . .

मेरा घर. . . मां चारपाई पर लेटी हुई है, बुखार में तप रही है, मेरी पत्नी पैरों की तरफ बैठी पांव दबा रही है, पास में ही मेरा पुत्र खड़ा है, उदास-सा।

कानों में आवाज सुनाई देती है – 'कैसी तबीयत है दादी अम्मा।' यह स्वर मेरे पुत्र का है।

एक अस्फुट-सा स्वर मां के मुंह से निकलता है – 'नारायण. . .'

– 'उफ!!'

– मैं घबराकर आंखें बंद कर लेता हूं। ऐसा प्रतीत होता है, जैसे मां की इस प्रकार की अवस्था का जिम्मेदार मैं हूं – मेरे विछोह में ही मां की हालत ऐसी हो गई है – क्षण-क्षण मेरे चेहरे पर रंग बदल रहे हैं – नागा बाबा एकटक मुझे घूर रहे हैं. . .?

– 'क्या देखा?'

मेरी आंखों में आंसू छलछला आये, गला भर आया. . . बा. . . बा. . . जी. . .!

'क्या निश्चय किया?' – बाबा का घनघोष स्वर गूंजा।

'मैं आज ही चला जाऊंगा. . . घर. . . इसी क्षण. . . इसी वक्त. . . क्या होगा इस प्रकार भटकने से' – मैं उठ खड़ा हुआ।

'बैठ जाओ' – बाबा का स्वर उभरा।

मैं यंत्रचालित-सा बैठ गया, जैसे किसी ने कंधों पर दबाव देकर मुझे बिठा दिया हो।

– 'बस; बुझ गये एक ही फूंक में. . . क्या सोचकर निकले थे घर से. . . क्या यह रास्ता इतना सरल है, कि सहज ही तुम्हें सब कुछ मिल जाएगा. . . बिना त्याग-बलिदान किये कहीं कभी कुछ प्राप्त हो सकता है. . .'

– 'पर मां की बलिवेदी पर मुझे यह सब कुछ नहीं चाहिए. . . मातृ-ऋण भी तो मुझ पर है, उसे भी तो चुकाना पुत्र का कर्त्तव्य है. . . मां मेरा नाम ले-लेकर तड़प रही है. . . और मैं यहां आपके पास बैठा हूं, कुछ सीखने के लिए. . . आज छः दिन हो गये, तब बोले हो पहली बार. . .!'

बाबाजी खिलखिला पड़े – 'बस रे! तेरी मां मरेगी नहीं, उसका कष्ट मैं भोग लूंगा, अब तो बस. . . तू घर से निकल ही पड़ा है, तो प्रभु का कोई विशेष हेतु है. . . और अभी तो तुझे आगे अलभ्य गुरु मिलने वाले हैं. . . स्वामी सच्चिदानंद. . . कहते-कहते वे लेट गये. . . मेरा ध्यान रखना. . . घबराना मत. . . इस बात की चर्चा भी किसी से मत करना. . .'

मेरा सिर तप गया था। कुंए पर चला गया और घण्टे-भर तक नहाता रहा, तब जाकर दिमाग कुछ शान्त हुआ, पुनः शिवालय आया, तो देखा कि बाबाजी उसी प्रकार लेटे हुए हैं; हाथ लगाकर देखा, तो पूरा शरीर तप्त तवे की भांति जल रहा था. . . अनुमानतः बुखार होगा करीब एक सौ तीन-चार डिग्री।

शाम को मैंने भोजन नहीं किया, उदास-सा. . .

शंकर के सामने बैठ गया. . . आंखें बंद कर. . . उसी क्षण स्वप्न में जैसे नागा बाबा दिखाई दिये, बोले – 'प्रकृतिस्थ हो, तेरी मां ठीक है, कल तक पूर्णतः ठीक हो जायेगी, उसका सारा कष्ट तो मैं भोग रहा हूं, मुझे उठाकर शिवालय से संलग्न कुटिया में सुला दे।'

मैं चैतन्य हुआ। बाबाजी उसी तरह पेड़ के नीचे लेटे हुए थे। उन्हें दोनों हाथों से उठाया और कुटिया में लिटा दिया— मैं पास ही बैठ गया।

शाम को एक ग्रामीण लगभग दो किलो दूध ले आया। बाबाजी के बुखार की बात को सुन कर वह बोला— 'बाबा वृद्ध हैं, कई बार इसी प्रकार बुखार से पीड़ित हो जाते हैं। हमने कई बार पहनने-ओढ़ने को दिया, पर ये तो पहनते ही नहीं. . . मर जायेंगे किसी दिन. . . भगवान जाने क्या जिद्द है इनकी भी!'

— बेचारे ग्रामीण. . . कितने अज्ञानी थे वे लोग. . . वे क्या जाने बाबाजी कितने ब्रह्मज्ञानी थे, पहुंचे हुए सन्त थे, त्रिकालदर्शी थे. . . अस्तु।

मैं रातभर जागता रहा। प्रातः उठ कर स्नान-संध्यादि से निवृत्त हुआ, बाबाजी का बुखार उतर गया था, वे नदी-तट की ओर चले गये थे. . . लौटे तो प्रसन्न थे, बोले— 'नारायण! तेरी मां स्वस्थ हैं, देख ले, मृत्यु निश्चित थी, पर मैंने उसे तीस वर्ष और दे दिये हैं'. . . और उन्होंने अंगुष्ठाग्र मेरे सामने कर दिया. . . और मैं आश्चर्यचकित था, मां की स्वस्थता पर. . . मां आंगन में बैठी थी, प्रसन्न. . . बाद में चार साल बाद जब मैं घर लौटा तथा मां की बीमारी के बारे में बात चलाई तो पता चला— बात सही थी, पर घर वाले तथा सभी डॉक्टर आश्चर्यचकित थे, कि एक ही रात में इनका कायापलट कैसे हो गया, एकदम से रात-रात में ही स्वस्थता, पूर्ण ताजगी तथा रोग का नामोनिशान तक नहीं. . . तब से इन पंक्तियों को लिखते वक्त तक मां को एक दिन भी बुखार तो क्या सिरदर्द भी नहीं हुआ है।

मैं बाबाजी के चरणों में गिर पड़ा, पहली बार उन्होंने आशीर्वाद दिया— 'तुम अपने लक्ष्य में सफल होओ'. . . और उसी दिन उन्होंने वहीं बैठे-बैठे मुझे 'नख दर्पणादि खण्ड विभूति' ज्ञान सिखाया, मंत्र बताया, इसकी साधना जरा दुर्गम है, पर उन्होंने तीन दिन, तीन रात जगकर अपने सामने इस साधना को पूर्ण कराया— यह उनकी ओर से मुझे पहला ज्ञान का दान था।

इस साधना के बल पर त्रिकाल गोपन नहीं रहता, दूर से दूर स्थान को नख में देखा जा सकता है, किसी भी व्यक्ति के भूत को भी, वर्तमान को भी और भविष्य को भी. . . इसके बाद तो मैं जब भी इच्छा होती, अपने घर को देख लेता, हाल-चाल जान लेता, आश्चर्य इस बात का है, कि अंगुष्ठाग्र में बाल के बराबर सामान्य वस्तु भी देखी जा सकती है. . . यहां तक कि सिर के बाल भी।

इस साधना के लिए जरूरी है, कि 'नख दर्पणादि खण्ड विभूति' मंत्र का नित्य-नियमित पाठ हो, बाबाजी के पास से जाने के बाद चार-पांच साल तक इसका अनवरत अभ्यास करता रहा, किन्तु घर लौटने पर गृहस्थ के चक्कर में उलझ गया और नित्य जप कायम न रख सका, अस्तु!

मैं नागा बाबा के पास लगभग दो महीने रहा। एक दिन दोपहर को मैं उनके पास बैठा हुआ था। वे 'श्वास-साधना' क्रिया समझा रहे थे। उनके मतानुसार श्वास-प्रश्वास-नियंत्रण ही अखण्डानंद की अनुभूति है। उनकी श्वास-प्रश्वास-क्रिया अत्यन्त ही सरल थी और चार-छः घण्टों में ही प्रयत्न करने पर मैं सीख गया। श्वास-प्रश्वास-क्रिया पर नियंत्रण करने पर वस्तुतः एक अनिर्वचनीय आनन्द की प्राप्ति होती है, जिसे लिखना और समझना सम्भव नहीं. . . वह आनंद तो मात्र अनुभव ही किया जा सकता है।

उनके अनुसार— 'मानव-जीवन की पूर्णता रसास्वादन में है, पर यह पूर्ण रसास्वादन न तो साधु कर पाता है और न गृहस्थी ही। ब्रह्मचर्य के कठोर नियंत्रण में भी यह सम्भव नहीं. . . और अधिक भोगविलास से भी इस रसास्वादन का अनुभव नहीं किया जा सकता।

'मानव का वीर्य ही उसका जीवन है। इस वीर्य पर ही उस की 'रस-साधना' एवं 'रसास्वादन-साधना' सम्भव है। इड़ा-पिंगला के साथ जिस बिन्दु का उल्लेख मिलता है, वह बिन्दु यही शुक्रात्मक वीर्य है, जो तेजोमय है. . . परन्तु शुक्रवाहक नाड़ी अवस्थोद्भुत होने पर वीर्य को बाहर निकाल देती है, यही क्रिया 'स्खलन-क्रिया' कहलाती है, पर स्खलन-क्रिया ही मृत्यु-क्रिया है।

'पर एक अन्य कौशल भी है, जिससे शुक्र या वीर्य को धारण करने के पूर्व ही वायवीय बनाया जा सकता है, जब वह वायवीय हो जाएगा, तब फिर पतन या स्खलन का प्रश्न ही नहीं उठता. . . और इस प्रकार मानव अपने तेजोमय स्वरूप को सुरक्षित रख सकता है।

'यही वायवीय शुक्र तरल-रूप में परिवर्तित किया जा सकता है. . . और पुनः ऊर्ध्वमुख कर उसे संजोया जा सकता है, यह ऊर्ध्वरेतावस्था ही दिव्यावस्था कहलाती है।'

मुझे यह बात असंभव-सी लगी और अपना सन्देह उनके सामने प्रकट भी किया, वे कुछ तमतमा-से गये, बोले— 'उठ. . . वह बाल्टी ला।'

मैंने उठकर बाल्टी लाकर उनके सामने रख दी। उन्होंने आंखें बंद कर लीं, दो मिनट बाद ही उनका निर्जीव-सा रहने वाला लिंग दृढ़ हुआ. . . मिनट दो-मिनट बाद ही तनकर कठोर हो गया, बाबाजी ने उसका मुंह बाल्टी के सिरे पर लगा लिया. . .और उसमें से शुभ्र, अगंध, पारदर्शी श्वेत रजतसम वीर्य अजस्र रूप से गिरने लगा. . . अनवरत. . . लगभग पन्द्रह मिनट में बाल्टी आधी भर गई, वीर्य इकट्ठा हो गया होगा लगभग तीन-साढ़े तीन किलो. . .।

बोले— 'देखा, यह वायवीय वीर्य का तरल रूप है। साधारण मानव क्या इस प्रकार कर सकता है, यही बिन्दु है, मानव का तेजोमय रूप है'. . .

मेरे सामने रहस्य की परतें उघड़ती जा रही थीं। वे पन्द्रह मिनट बाद रुक गये, अपने लिंग को और बढ़ा दिया, संभवत उस समय उसकी लम्बाई डेढ़ फीट होगी. . . लिंग का अग्रभाग वीर्य में डूबो दिया. . . और पन्द्रह मिनट में ही उस वीर्य को लिंग से पुनः सोख लिया. . . बाल्टी खाली थी।

उन्होंने 'गुह्य क्रिया' द्वारा लिंग को तीन गज तक लम्बा करके भी दिखाया, जिससे कि उनकी कमर में दो बार लपेटा गया। ऐसा प्रतीत हो रहा था, मानो रस्सी कमर में दो बल से लपेटी हुई हो।

बोले— 'यह शक्ति-रहस्य का बीज-रूप है, जो कि "श्वास-प्रश्वास साधना" से ही सम्भव है'. . . उन्होंने कमर से लपेटे हुए लिंग को स्वतः सीधा किया. . . मैंने देखा लिंग में से भंवरे निकल रहे हैं. . . भ्रमर गण. . . भ्रमरावलि. . . यह बीज-रूप का प्रणव-साधन है। आध घण्टे में मैंने देखा, कि सैकड़ों भंवरे लिंग में से निकले और पुनः उसी में प्रश्वास-साधन से समा गये। इसके बाद उन्होंने पुनः लिंग का संकोचन प्रारम्भ किया, और दो मिनट में ही लिंग सिकुड़कर निर्जीव-सा चार अंगुल का रह गया था. . . मैं

विस्मयाभिभूत हुआ उनके चरणों में गिर पड़ा।

श्वास-प्रश्वास-साधना सबसे पहले मैंने नागा बाबा से ही सीखा था। इसके बाद इसका उच्च ज्ञान मैंने पूज्य गुरुदेव सच्चिदानंद महाराज से भी प्राप्त किया था, अस्तु।

नागा बाबा के पास अलौकिक सिद्धियां थीं। दूसरों के मन को पढ़ पाना उनके लिए सरल था। एक दिन जब मैं और नागा बाबा सायं गंगा-तट पर गये, तो बोले— 'तुम एक कागज पर कुछ भी लिखकर जेब में डाल लो।'

मैंने कागज पर लिखा— 'क्या मुझे इस जन्म में सच्चे गुरु मिल सकेंगे?'

उनकी आज्ञा से मैंने उस पत्र को समेट गोली-सी बना कर जेब में डाल दिया। उन्होंने बता दिया, कि मैंने पत्रे पर क्या लिखा है। मैंने कहा— 'त्रिकाल साधन मंत्र' से यह सम्भव है।' इसे मैं पहले सीख चुका था।

तो वे बोले— 'इस बार फिर कुछ लिखो।'

मैंने दूसरे कागज पर लिखा— 'मुझे गुरु कब मिलेंगे और उनका नाम क्या होगा?' इस कागज को भी मोड़-तोड़कर गोली-सा बना दिया।

उन्होंने कहा— 'इस कागज की गोली को दूर गंगा में फेंक दो।' मैंने वह कागज की गोली काफी दूर गंगा में फेंक दी। उन्होंने एक मिनट बाद ही गंगा के जल में हाथ डालकर मेरा कागज मुझे सौंप दिया, आश्चर्य यह था कि वह कागज मेरा ही था, उस पर मेरी ही लिखावट थी. . . और उसके नीचे 'अलक्तक' से लिखा था— 'तीन महीने बाद ही. . . सच्चिदानंद के रूप में. . .'

आश्चर्य तो यह था, कि वह कागज सीधा सपाट था और कहीं से भी किंचित् भी गीला नहीं था, जब कि बाबाजी ने मेरे सामने गंगा के जल से निकाला था।

एक दिन प्रातः मैं गंगा-स्नान कर लौट रहा था, कि मार्ग में एक पहाड़ी काले सांप ने मुझे डंस लिया। थोड़ा-थोड़ा अंधेरा होने के कारण

मैं देख नहीं सका था, पर काटते ही मेरे मुंह से आह निकल गई. . . सांप सरसराता हुआ एक तरफ भाग गया।

वह स्थान जहां सांप ने डसा था, भयंकर रूप से जलने लगा. . . मैं भागा. . . बाबाजी के सामने आकर सांप कहकर संज्ञाशून्य-सा हो गया। उन्होंने अपने दायें हाथ का अंगूठा मेरे मुंह में दे दिया, जिसे मैं चूसता रहा, पन्द्रह-बीस मिनट बाद ही मैं स्वस्थ हो गया और विष का प्रभाव पूर्णतः जाता रहा।

बाबाजी सहज शून्य थे, एक आसन पर, एक ही मुद्रा में वे घण्टों बैठे रहते, उस समय संभवतः वे ब्रह्मानन्द में लीन होते थे. . . एक दिन मैंने सहज उत्सुकतावश पूछा— 'बाबा! आप किसके ध्यान में लीन रहते हैं. . . वह कौन-सा आनन्द है?'

बाबा बोले— 'ब्रह्मानन्द।'

मैंने कहा— 'क्या मैं इस ब्रह्मानन्द रस का पान कर सकता हूं।'

बाबा ने हुमक कर मेरी छाती में लात मार दी. . . ऐसा लगा जैसे मैं ऊर्ध्वलोक में उड़ा जा रहा हूं. . . चिन्ताओं से परे. . . एक अनिर्वचनीय लोक में. . . जहां सर्वत्र शांति थी. . . स्निग्धता थी. . . पवित्रता थी।

दो मिनट बाद ही मेरी आंख खुल गई, बाबा बोले— 'कुछ देखा. . .?'

— 'हां बाबा! कुछ अनुभव किया, जो वर्णन से परे है. . . पर. . .'

— 'बस, इससे ज्यादा पाने के अभी तुम अधिकारी नहीं हो, जब समय आयेगा, देखा जायगा।'

मैं मन मसोसकर चुप रह गया।

बाबा के पास लगभग मैं तीन महीने रहा। एक दिन चित्त में अत्यन्त बेचैनी बढ़ गई. . . ऐसा लग रहा था, जैसे संडासी से पकड़कर कोई प्राणों को खींच रहा हो. . . मैंने अपनी व्यथा बाबाजी के सामने रखी. . .

बाबाजी गंभीर हो गये, बोले— 'तुम्हें गुरु बुला रहे हैं. . . अभी यहां से रवाना हो जाओ।'

— 'पर किधर? किस दिशा की ओर?'

बाबा हंसे. . . 'पानी अपने-आप उधर बढ़ जाता है जिधर लक्ष्य होता है. . . गंगोत्री की तरफ बढ़ जाओ'— और मुझे अपने पास से उठा दिया।'

मैं आज्ञा स्वीकार कर उठ खड़ा हुआ। वे ही दो वस्त्र और जलपात्र थैली में डाले और अश्रुपूरित नेत्रों से उठ खड़ा हुआ. . .

बाबा की आंखें नम हो आईं. . . गंगातट तक पहुंचाने आये, उस समय दोपहर के ढाई बजे थे, बोले— 'जाओ! शीघ्र ही मैं तुमसे एक बार फिर मिलूंगा।'

मैंने बाबाजी के चरणों की धूलि सिर पर लगायी और गंगा के किनारे-किनारे अजाने पथ पर, भरे हृदय तथा अश्रुपूरित नेत्रों से बढ़ चला. . . बाबा सवेग पुनः शिवालय की ओर लौट पड़े।

विश्वरूपात्मक दर्शन

बाबा से बिछुड़ने के बाद मैंने कई दिनों तक यात्रा की, मार्ग में किसी गांव में ठहर जाता. . . इस बीच काफी अनुभव हुए. . . पर वे सब लिखने व्यर्थ हैं, इसके बाद मेरा सम्पर्क ''मां भैरवी'' से हुआ।

मां भैरवी बाल विधवा थीं, मैंने उनके दर्शन किये तब उनकी आयु सत्तर वर्ष के लगभग थी. . . गांव में एक काली का मंदिर था और उसी मंदिर में वे रहती थीं। मां काली की वे भक्त थीं और उस क्षेत्र में मां भैरवी की काफी प्रसिद्धि थी।

मैं गांव में एक ब्राह्मण-परिवार के यहां ठहर गया तथा प्रातः-सायं नित्य मां भैरवी के सत्संग में जाता. . . और वे जो भी उपदेश देतीं, उसे ग्रहण करता।

इनका विवाह ग्यारह वर्ष की अवस्था में ही हो गया था, किन्तु विवाह के कुछ दिनों बाद ही इन्हें वैधव्य-दुःख भोगना पड़ा, इससे इनके चित्त में वैराग्य हो गया। ये बंगाल शरीर थीं, इन्होंने अपने गुरु से तंत्र-शास्त्र में भारी ज्ञान प्राप्त किया था। इसी वजह से काफी दूर-दूर से लोग इनके पास आते थे। पिछले बीस-बाईस वर्षों से इन्होंने अन्न छोड़ रखा था, मात्र फल-दूध ही सेवन करती थीं।

एक दिन सत्संग के बीच रुककर मुझसे बोलीं– 'तुमने अभी गुरु नहीं बनाया. . . ऐसा लग रहा है।'

मैंने स्वीकार किया, और कहा– 'मैं योग्य गुरु की खोज में हूं, चाहता हूं, शीघ्रातिशीघ्र यह कार्य सम्पन्न हो जाय. . .।'

वे हंसी. . . बोलीं– 'गुरु को खोजने में देर क्या, अबेर क्या. . .?'

मैं उस समय तो चुप रह गया. . . सचमुच गुरु खोजने में देर क्या. . . अबेर क्या. . . मानसिक घुमड़न से मैं त्रस्त हो गया।

सत्संग समाप्त हो गया. . . सब उठकर जाने लगे, मुझे उंगली के इशारे से रोक दिया, बोलीं– 'मन अशान्त है. . .?'

– 'हां, मां! वास्तव में मेरा जीवन अकारथ जा रहा है, लगभग दो वर्ष हो गये और अभी तक गुरु-प्राप्ति सम्भव न हो सकी।'

मैंने जिज्ञासा की– 'गुरु कैसे प्राप्त करूं?'

वे हंसीं, बोलीं– 'शिष्य बन जाओ. . . शिष्य बनते ही गुरु प्राप्ति हो जायेगी।'

मुझे आश्चर्य हुआ. . . बात लपेटकर कही थी. . . मैंने कहा– 'समझा नहीं मां!'

उन्होंने कहा–'गुरु मिलना तो सहज सुलभ है, पर शिष्य बनना, अपने में शिष्यत्व उत्पन्न करना अत्यन्त कठिन है. . . और शिष्यत्व गुण के विकास में कई वर्ष बीत जाते हैं, जिस दिन तुममें शिष्यत्व के पूर्ण गुण विकसित होंगे, गुरु लाभ उसी क्षण हो जायेगा।'

मैंने जिज्ञासा की– 'शिष्यत्व के गुण क्या हैं?'

बोलीं– 'शिष्यत्व का एक ही पहला और अन्तिम गुण है, सर्वात्म-भावेन गुरु में लीन हो जाना. . . गुरु में लीन होने पर स्वयं के विचार, स्वयं की भावनाएं, स्वयं का काम, क्रोध, मोह आदि सब तिरोहित हो जाते हैं, गुरु की आज्ञा ही सर्वोपरि हो जाती है. . . उसमें न विचार होता है न तर्क।'

मेरा अबोध मन संतुष्ट न हुआ. . .बोला– 'अगर गुरु कुंए में गिर जाने को कहें तो. . .?'

– 'गुरु ऐसा कहेंगे ही क्यों?'

– 'अगर कह दें तो. . .?'

– 'तो फिर आगा-पीछा कैसा? विचार-तर्क कैसा? गुरु-आज्ञा-पालन में देरी कैसी? गुरु आज्ञा पालन का तात्पर्य ही यह है, कि शिष्य का एकमात्र लक्ष्य गुरु-आज्ञा पालन ही होना चाहिए।'

'गुरु की आज्ञा पालन कोई मामूली बात नहीं. . . इसमें न आगे-पीछे का विचार होता है, न ऊंच-नीच का; भविष्य के प्रति चिंता करना गुरु का कार्य है, शिष्य का नहीं।'

मैंने कहा– 'सम्भवतः मुझ से ऐसा न हो सकेगा।'

– 'तो गुरु-प्राप्ति भी सम्भव नहीं'. . . और वे उठ खड़ी हुईं तथा साधना कक्ष में चली गईं।

मैं दस-पन्द्रह मिनट वहीं बैठा रहा. . . शिष्यत्व का एक नया अध्याय मेरे सामने खुल गया था. . . वस्तुतः किसी से प्राप्त करना सहज सरल नहीं. . . जब तक हम कुछ दें नहीं, तब तक प्राप्त करने की आशा भी तो कैसे की जा सकती है. . . और हमारे पास देने के लिए है भी क्या. . . तन. . . मन. . .!

मुझे दुःख और ग्लानि हुई, कि 'मैं अभी तक शिष्यत्व के गुण अपने-आप में एकत्र न कर सका. . . फिर मैं क्यों उम्मीद करूं कि मुझे गुरु मिल जायें, कमी तो अभी तक मुझ में ही है'. . . और ग्लानि से मेरी आंखों से टप-टप आंसू गिरने लगे।

मैं उठ खड़ा हुआ। निवास-स्थान पर आया और सो गया. . . सिर भारी हो गया था. . . वस्तुतः मां ने मेरी त्रुटि की ओर संकेत कर दिया था, जिसे मैं भुला बैठा था। दूसरे दिन मैं सत्संग में जा नहीं सका।

तीसरे दिन मां का बुलावा आया– 'मेरी साधना-कुटिया में तीन बजे के लगभग आकर मिलो।'

मैं तो उस दिन जाने का उपक्रम कर रहा था, आदेश पाकर रुक गया। दोपहर को नियत समय पर पहुंचा. . . साधना-कक्ष से ध्वनि आ रही थी. . .

सुर ललना तत थेयि तथेपि तथाभिनयोत्तर नृत्यरते,
हास विलास हुलासमयि प्रणतार्त जने मित प्रेम भरे।
धिमि कट किक्कट धिक्कट धिमिध्वनि घोर मृदंग निनाद रते;
जय जय हे महिषासुर मर्दिनि रम्य कपर्दिनि शैलसुते।।

जय जय जय जय शब्द परस्तुति तत्पर विश्वनते,
झण झण झिंझिमि कृतनूपुर शिंजित मोहित भूतपते।
नटित नटार्ध नटी नट नायक नाटित नाट्य सुगान रते;
जय जय हे महिषासुर मर्दिनी रम्य कपर्दिनि शैलसुते।।

सहित महारव मल्ल मतल्लिक मल्लि तरल्ल कमल्ल रते,
विरचित वल्लिक पल्लिक मल्लिक झिल्लिक झिल्लिक वर्गवृते।
सितकृत फुल्ल समुल्ल सितारुण तल्लज पल्लव सल्ललिते;
जय जय हे महिषासुर मर्दिनी रम्य कपर्दिनी शैलसुते।।

मैं सम्मोहित-सा सुनता रहा, कुछ ही क्षणों बाद आदेश हुआ– 'अन्दर आ जाओ।' मैं साधना कक्ष में चला गया, कक्ष छोटा-सा था, पर धूमायित था. . . मैं शिशुवत् उनके सामने बिछे आसन पर विनम्र भाव से बैठ गया।

बोलीं– 'मैं पहले दिन ही तुम्हारी आंखें देखकर जान गई थी, कि तुम किसी विशिष्ट की खोज में हो. . . और यह भी कि अब उसमें ज्यादा देर नहीं है।'

उन्होंने मुझे आंखें बंद कर ध्यान ऊर्ध्वस्थ कर देने को कहा। मैं अक्षेपासन कर बैठ गया और कुछ ही क्षणों के उपरान्त ध्यान को ऊर्ध्वस्थ करने में सफल हो गया।

उनका हाथ मेरे सिर पर और फिर मेरी आंखों पर लगा. . . ऐसा प्रतीत हुआ जैसे एक ज्योति सिमटकर मेरे अन्दर समा गई है. . . ध्यानस्थ होने पर भी सब कुछ तीव्र आलोकमय हो गया. . . चराचर विश्व प्रोद्भूत होने लगा. . . ऐसा प्रतीत होने लगा जैसे मैं सर्वत्र व्याप्त हो गया हूं. . . और सब कुछ मुझमें व्याप्त हो गया है. . . यह स्थिति कुछ क्षणों तक रही. . . उनका हाथ हटते ही सब कुछ पूर्ववत् हो गया. . . मेरा ध्यान टूट गया, नेत्र खुल गये. . .।

बोलीं– 'कुछ देखा. . .'

'हां. . . मां!'

'यही प्रकृत्यात्मक है, साधना का द्वितीय चरण है, तृतीय चरण तुम्हें गुरु सिखायेंगे'– और फिर उन्होंने 'प्रकृत्यात्मक स्थिति' प्राप्त करने का मार्ग सुझाया।

मेरे लिए यह अद्भुत था. . . इसके बाद मैं वहां लगभग पन्द्रह दिन तक रहा. . . साधना से, अभ्यास से, मैं इस स्थिति को आधे घण्टे से ज्यादा समय तक रखने में सफल हो गया था, अंतिम दिन मैंने उनके सामने, उनकी आज्ञा से करके दिखाया भी. . . मां अत्यन्त प्रसन्न हुई और उन्होंने कृपा पूर्वक 'सर्वात्मभाव विश्वरूपात्मक दर्शन' करने की विधि भी सुझाई, जो कि कठिन होने के साथ-साथ अद्भुत एवं विस्तृत है, जिसे प्रकाशित करना उचित नहीं।

अन्तिम दिन मैं उनसे विदा लेने गया, सत्संग-समाप्ति के बाद मुझे रोक दिया। बोलीं– 'गुरु दक्षिणा नहीं दोगे?'

मैं खड़ा था. . . उनके सामने ही प्रणिपात लेट गया. . . पूरा शरीर. . . मन. . . समर्पित था. . . और गुरु दक्षिणा देता भी क्या?

उन्होंने कंधा पकड़कर उठाया, स्कंध पर उनके हाथ का स्पर्श होते ही 'कुण्डलिनी विराट् शून्य' पर झटका लगा और मैं तुरन्त समाधिस्थ हो गया . . . लगभग घण्टे भर तक यह स्थिति रही. . . स्वतः ही. . . अप्रयास ही. . .

आंखें खुलीं तब वे सामने बैठी थीं, मंद-मंद हास्य बिखर रहा था. . . ऐसा प्रतीत हो रहा था, मानो विराट् शून्य में जगज्जननी मुस्करा रही हों. . . मैं आनन्दातिरेक से पुलकित हो गया। सामने 'पूज्य खण्ड' से उठाकर उन्होंने एक मणि मुझे दी. . . अद्भुत. . . सिद्धिप्रद. . . यह तो बाद में गुरु कृपा से ही ज्ञात हो सका, कि यह मणि कितनी अद्भुत शक्ति सम्पन्न, फलप्रद एवं साधनामय है. . . सम्पूर्ण विश्व का वैभव उसके सामने तुच्छ है. . . नगण्य है . . . मुझे जाने का संकेत हुआ, मैं मणि लेकर उठ खड़ा हुआ. . . मां का वरद हस्त मेरे सिर पर पड़ा. . . और मुझे जाने की आज्ञा देकर वे ध्यानस्थ हो गईं।

मैं ब्राह्मण कुमार (मेरे आतिथेय) के घर गया। उनसे विदा ली और आगे के लिए बढ़ गया. . . उस समय दिन के चार बजे थे। शान्त. . . मनोहर प्रकृति मेरे साथ थी और था मां का आशीर्वाद. . . उनके द्वारा प्रदत्त अमूल्य मणि. . . और प्रभु की असीम कृपा. . .।

❋
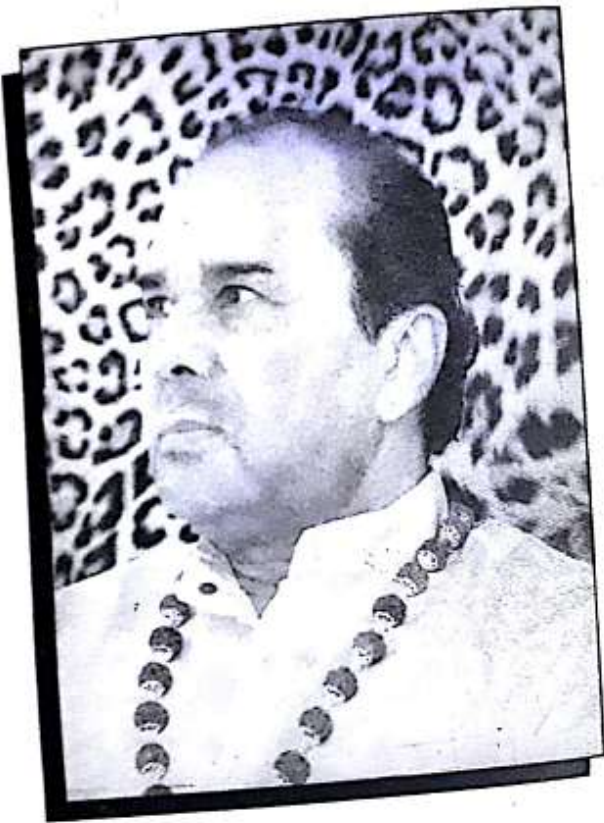
त्रिजटा

अब मैं हिमालय के दुर्गम पहाड़ी प्रदेश में विचरण कर रहा था, जिस गांव के आसपास रात होती. . . वहीं ठहर जाता. . . 'सहजाश्रम' पहुंचने से पूर्व कई अनुभव हुए, उन सबका उल्लेख करना व्यर्थ है. . . हां, 'त्रिजटा अघोरी' का उल्लेख करना जरूर चाहूंगा।

इनसे मेरी भेंट अचानक हो गई थी, कुछ दिनों से मेरा स्वास्थ्य ठीक नहीं चल रहा था, मैं एक गांव में ठहर गया था और स्थानीय वैद्य की दवा का सेवन कर रहा था. . . मैंने अपना वास्तविक परिचय उन्हें नहीं दिया था।

स्वास्थ्य संभलने लगा था। प्रातः भ्रमण का मुझे शौक रहा है, जो आज तक चल रहा है; मैं स्नान-सन्ध्यादि से निवृत्त होकर गांव के बाहर एक पहाड़ी पर स्थित मंदिर को देखकर दर्शनार्थ उधर बढ़ गया. . . दुर्गम एवं फिसलन भरी चढ़ाई थी. . . मेरी सांस उखड़ने लगी और मैं हांफने लग गया था. . . फिर भी उस मंदिर को देखने का लोभ संवरण न कर सका। मंदिर गांव से तीन-चार मील दूर सर्वथा जनशून्य स्थान पर था। ऊपर पहुंचा, तो थककर चूर हो गया था। वैद्य ने मुझे ज्यादा चलने के लिए मना किया था, मगर मैं उनकी आज्ञा का उल्लंघन कर बैठा. . . मुझे चक्कर आने लग गये. . . मंदिर तक पहुंचते-पहुंचते मैं बेहोश होकर गिर पड़ा।

पता नहीं कितनी देर तक मैं बेहोश रहा; पर जब आंख खुली तो सामने

खड़े व्यक्ति को देखकर लगभग चीख-सा पड़ा। यह सामने खड़ा व्यक्ति था— "त्रिजटा अघोरी"!!

भयंकर. . . गेंडे-सा काला आबनूसी शरीर. . . शरीर पर बड़े-बड़े बाल. . . सिर पर लम्बे बाल, पर उन बालों को तीन भागों में बांटकर औरतों की तरह तीन चोटियां गुथी हुई. . . ललाट पर सिंदूर का बड़ा-सा तिलक. . . भयानक मोटी-मोटी रक्तिम आंखें. . . छोटे-छोटे पर फौलादी हाथ. . . पूरे शरीर पर मात्र कमर से बंधा कृष्ण मृग-चर्म. . . भयानक डरावना शरीर. . . यह था त्रिजटा अघोरी।

मुझे अपनी स्थिति का भान हुआ और पछताया भी, कि इधर आने से पूर्व गांववालों से जानकारी क्यों न ले ली. . . पर अब सोचना-विचारना व्यर्थ था, प्रकृति जिधर मुझे ठेल रही थी, उधर जाना ही था. . . मैंने हृदय में साहस का संचार किया, उठा और मंदिर के प्रांगण में जा खड़ा हुआ. . . भैरव-मंदिर था— सामने भैरव की विशाल-विकराल मूर्ति थी. . . मैंने अपना ध्यान त्रिजटा अघोरी की ओर से हटा लिया तथा अपने-आप को प्रकृति के हवाले कर दिया, पालथी मारकर बैठ गया. . . होंठ बुदबुदाने लगे—

संसृति कूप मनल्पमधोनि निदाघनिदानमजस्रमशेषं,
प्राप्य सुदुःख सहस्र भुजंग विषैक समाकुल सर्वतनीमं।
घोर महा कृपणापदमेव गतस्य हरे पतितस्य भवाब्धौ;
त्वां भजतो मम देहि दयाघन हे मद्भैरु पदाम्बुजदास्यम्।।
संसृति सिन्धु विशाल कराल महाबल कालमखग्रस नार्तं,
व्यग्र समग्र धियं कृपणं च महामद नक्र सुचक्र हतासुं।
काल महारसानोर्मिनिपीड़ित मुद्धर दीनमनन्य गतिं मां;
त्वां भजतो मम देहि दयाघन हे मद्भैरु पदाम्बुजदास्यम्।।
संसृति पन्नगवक्त्र भयंकर दंष्ट महाविष दग्ध शरीरं,
प्राण विनिर्गम भीति समाकुल मन्वमनाथमतीव विषण्णं।
मोह महा कुहरे पतितं दययोद्धर मां जितेन्द्रिय कामं;
त्वां भजतो मम देहि दयाघन हे मद्भैरु पदाम्बुजदास्यम्।।

मेरी आंखें बंद थीं, स्तुति समाप्त कर आंखें ऊपर उठाईं तो देखा, पास ही अघोरी खड़ा था, विकराल. . . लाल नेत्र. . . क्रोध से अंगारवत् जलता हुआ. . .

बोला— 'तेरी यह हिम्मत. . . कि इस अपवित्र चोले से भैरव की स्तुति करे. . . नारकी कीड़े. . . म्लेच्छ. . .'

मैं यथासम्भव क्रोध को सीमित रख रहा था. . . यह बात नहीं थी, कि मैं डर रहा था, सामान्य डर तो पहली बार देखते समय लगा था. . . बाद में तो मैं निर्भय था. . . क्या कर सकता है. . . यह अघोरी. . . हो सकता है, इसके पास तांत्रिक विद्या हो, मारक प्रभाव हो. . . पर मिट्टी का लोंदा तो मैं भी नहीं था— उठ खड़ा हुआ. . . उसके मुंह से अजस्र गालियां निकल रही थीं. . . वह मुझे उकसाना चाहता था, क्रोध में लाना चाहता था. . . तांत्रिक विद्या में प्रतिपक्षी का क्रोधित होना, चोट करने की भावना होना जरूरी है, अक्रोध पर तंत्र निष्फल हो जाता है, जिन्हें तंत्र-विद्या का ज्ञान न हो और किसी दुष्ट तांत्रिक से पाला पड़ जाय, तो उस समय उसका सबसे बड़ा हथियार अक्रोध ही होता है, क्रोध-रहित व्यक्ति पर तांत्रिक प्रयोग निष्फल-से ही होते हैं।

मैं इससे पूर्व तांत्रिक रहस्यों को काफी कुछ जान चुका था, यह मैं पीछे के पृष्ठों में बता चुका हूं. . . पर मैं तांत्रिक प्रयोग का सहारा लेकर मंत्र-विद्या को धूमिल नहीं करना चाहता था. . . यथासम्भव मैं शान्त ही रहना चाहता था, पर जानकार को क्रोध आना नैसर्गिक है, जबकि उस पर अनुचित दबाव पड़ रहा हो. . . धीरे-धीरे मेरे मन में भी क्रोध का संचरण हो रहा था।

अजीब परिस्थिति थी, मैं लगभग शान्त-सा खड़ा था, मुझे शान्त देख अकारण ही वह क्रोध से तप्त हो रहा था। उसके होंठ बड़बड़ा रहे थे, अब गालियां निकलनी बंद हो गई थीं. . . और 'स्तंभन प्रयोग' चालू कर दिया था, इसके माध्यम से सामने वाले व्यक्ति को अपाहिज-सा कर गुलाम बना दिया जाता है; सामने वाला व्यक्ति इसके प्रभाव से न सोच सकता है, न समझ सकता है, न विरोध कर सकता है और न निरोध ही। मुझे यह 'स्तंभन प्रयोग' आता था, अघोरी इसका प्रयोग कर रहा था. . .

धूं धूं धूं धूर्जटे. . . खं खं खं क्षं क्षोहिणी
त्रं त्रं त्रं त्रास संत्रास्यं भ्रं भ्रं भ्रं भ्रम्म भोगिणी
बं बं बं. . .

मैं दो-तीन मिनट उसकी नीच प्रकृति एवं हरकतों को देखता रहा, फिर इसका निरोध करने का निश्चय किया एवं 'शत्रुमुख स्तंभन प्रयोग' प्रारम्भ किया। 'शत्रुमुख स्तंभन' प्रयोग तंत्र क्षेत्र में अद्भुत है, इससे सामने वाले का मुंह खुला का खुला रह जाता है, बंद नहीं होता; जब तक कि आप ही पुनः प्रयोग न करें. . . इस प्रकार होने से वह व्यक्ति न तो मंत्र-जप कर सकता है, न बोल सकता है (केवल मात्र घों-घों की ध्वनि निकाल सकता है) और न ही खाना खा सकता है।

इसका प्रयोग यथासम्भव अत्यन्त ही कम करना चाहिए, जब तक कि प्राणों पर ही आ न जाय. . . काफी वर्षों बाद इसी तंत्र का प्रयोग मुझे मजबूरी से अहमदाबाद में शक्तिनाथ तांत्रिक के विरोध में करना पड़ा था, जबकि उसने मुझ पर ही मूठ फेंक कर मार देने का उपक्रम रचा था. . . चौबीस घण्टे तक उनकी यही स्थिति रही. . . गिड़गिड़ाकर गलती स्वीकार की. . . आंखों में आंसू आ गये, तब रघुभाई झवेरी तथा झीना भाई के अनुरोध एवं आग्रह पर चौबीस घण्टों बाद इस प्रयोग को शान्त किया था. . . शक्तिनाथ जी ने तो काफी त्रस्त कर रखा था आसपास की जनता को, अस्तु. . . 'जो जस करहि चखहि फल तासा'. . . यों मैंने पूरे जीवन में इस प्रयोग का सहारा दो बार ही लिया है. . . मजबूरी में. . . विवशता में. . . अन्यथा मैं तांत्रिक प्रयोगों से दूर ही रहना चाहता हूं।

खैर, प्रयोग समाप्त होते न होते त्रिजटा अघोरी का बड़बड़ाना बंद हो गया, उसकी आंखें आश्चर्य से फैल गईं, क्रोध काफूर हो गया, चेहरे पर चिन्ता की लकीरें अवश्य खिंच गईं. . . पर था शक्तिमान, उसने मानस प्रयोग कर मेरे 'शत्रुमुख स्तंभन प्रयोग' को निष्फल कर दिया, उसने अपना मुंह सामान्य बना लिया।

— यह था मेरा अघोरी से पहला परिचय. . . अपने-अपने प्रमाण-पत्रों का आदान-प्रदान. . .

उसके चेहरे पर चमक एवं प्रसन्नता थी, उसने मुझे खिलौने की तरह दोनों हाथों से ऊपर उठा लिया और दो-तीन चक्कर काटकर पृथ्वी पर खड़ा कर दिया।

इसके बाद तो अघोरी से मेरी मित्रता हो गई— घनिष्ठता हुई, मैं उस भैरव-मंदिर में ही लगभग बीस-पच्चीस दिनों तक रहा, वह मेरा पथ-प्रदर्शक बना। सही शब्दों में कहूं, तो तांत्रिक प्रयोगों में वह मेरा गुरु बना, तांत्रिक दृष्टि से मैं आज भी उसे अपना गुरु मानता हूं— निस्सन्देह वह व्यक्ति अपार शक्ति-सम्पन्न है।

उसने मुझे निश्छल हृदय से तांत्रिक विद्या में काफी निष्णात किया। इन

पचीस दिनों में मैं शायद ही सोया होऊं, निद्रा-स्तंभन से उसने मेरी तथा अपनी नींद उड़ा दी थी. . . और ये पूरे पचीस दिन तांत्रिक साधना में ही व्यतीत हुए।

त्रिजटा अघोरी ने मुझे वशीकरण मंत्र, मोहन मंत्र, आकर्षण मंत्र, उच्चाटन प्रयोग, कालिका चेटक, शत्रुस्तंभन, गतिस्तंभन, क्षुधा-स्तंभन, दशवागर्की वशीकरण प्रयोग, वार्ताली स्तंभन, इच्छा-प्राप्ति प्रयोग, आकर्षण प्रयोग, विद्वेषण प्रयोग, शांतिकरण प्रयोग, यक्ष चेटक, उच्छिष्ट चाण्डालिनि चेटक, कगचिनी चेटक, कर्णावर्त-श्मशान यक्षिणी चेटक आदि कई प्रयोग अपने सामने कराये एवं परीक्षा लेकर प्रमाणित किया। वशीकरण, आकर्षण एवं उच्चाटन पर उसके पास कुबेर का खजाना था और उस खजाने से लुटाने में उसने ना-नुच नहीं की— और न मैंने लेने में संकोच किया।

निस्सन्देह त्रिजटा अघोरी शिशुवत् सरल हृदय था. . . बादाम की तरह, जो ऊपर से कठोर था, परन्तु अन्दर सुस्वादु मधुर फलदायक— वे आज भी जीवित हैं. . . 'श्रम्य प्रयोग' से कई बार वार्तालाप हुआ है, पर वापस उधर जाने का न तो अवसर मिल सका है. . . न तो समय ही. . . त्रिजटा अघोरी के प्रति काफी कोमल भावनाएं मेरे हृदय में हैं— उसका आग्रह, सिखाने का क्रम मेरे जीवन की निधि है।

मैं जाने लगा, तो मुझे रोकने के लिए उसने काफी प्रयत्न किये, तोप्रयत्न नहीं— आग्रह. . . अनुरोध किया. . . पर यह मेरा लक्ष्य नहीं था. . . वह तो मात्र पड़ाव था, तंत्र-विद्या में मेरी रुचि नहीं थी, पर विद्या प्राप्त हो जाय तो मैं छोड़ने में लाभ नहीं समझता था।

एक दिन भरे मन से मैंने वहां से विदा ली। विदा होते समय उसने अपना कलेजा 'रतिराज गुटका' निकालकर दिया। इस गुटके (यंत्र) की शक्ति न तो इन पृष्ठों में लिखी जा सकती है और न लिखना उचित ही समझता हूं; विरल तांत्रिक को ही यह गुटका सुलभ होता है — जो तांत्रिक विद्या में निष्णात हैं, वे ही इस गुटके का महत्त्व एवं शक्ति जान सकते हैं।

❋

रत्न औषधि

•

त्रिजटा अघोरी से बिछुड़ने के बाद मेरा काफी समय तांत्रिक प्रक्रियाओं में ही बीतने लगा। किसी सपेरे की पुंगी (बीन) बंद कर देना, मनुष्य को सम्मोहित कर उससे इच्छित कार्य करवाना, सर्प सम्मोहित कर गले में लटका देना, पत्थर से मिठाई बना देना आदि ऐसे कई लटके-झटके करता रहता। इन्हीं दिनों "सीताराम स्वामी" से भेंट हुई और एक ही झटके में मेरी विचार प्रक्रिया ही बदल गई।

सीताराम स्वामी परम वैष्णव थे, डुडियारी ग्राम के राम मंदिर के प्रधान पुजारी। डुड़ियारी गांव काफी बड़ा है और यहां का श्रीराम मंदिर दूर-दूर तक प्रसिद्ध है। मंदिर में श्रीराम की विशाल एवं भव्य प्रतिमा है, सीताराम स्वामी इसी मंदिर में प्रधान पुजारी थे।

मैं घूमते-घूमते डुड़ियारी ग्राम जा पहुंचा था और मंदिर में ही एक तरफ ठहर गया था। मंदिर की एक ओर अतिथि-कुटिया है, इसी कुटिया में मेरे ठहरने की व्यवस्था की गई।

तीसरे या चौथे रोज जब शाम को श्रीराम की आरती समाप्त हुई तथा सीताराम जी बाहर जाने लगे, तो मैं उनके साथ हो लिया। मार्ग में मैंने अपना परिचय, प्रयोजन एवं कार्य-क्षमता का विवरण दिया; तब तक

उनका घर आ गया और मैं उनके घर के आंगन में बिछाये गये आसन पर बैठ गया।

तांत्रिक-प्रक्रिया की बात चलने पर मैंने दो-चार क्रियाएं करके दिखाई। इन क्रियाओं में एक क्रिया स्वामी जी के पूर्ण घर के सदस्यों को सम्मोहित कर देना था। स्वामी जी के सामने ही मैंने उनकी पत्नी, पुत्र एवं उनके भाई को सम्मोहित करके दिखाया तथा उन्हें जो आदेश दिये वे उन्हीं आदेशों का पालन करने लगे। स्वामी जी देखते रहे, उनके चेहरे पर किसी प्रकार की कोई प्रतिक्रिया नहीं थी।

सम्मोहन तोड़ने पर स्वामी जी उठ खड़े हुए, बोले– 'चलो जरा बाहर घूम आयें।'

मैं उनके साथ हो लिया। गांव के बाहर आने पर मैदान में वे एक स्थान पर बैठ गये, बोले– 'तुमने अपने भविष्य के बारे में क्या सोचा है?'

मैंने कोई उत्तर नहीं दिया, तो बोले– 'इन तांत्रिक प्रक्रियाओं में समय बिताना जीवन की बरबादी है। तुम्हारा जीवन इन छोटी-मोटी सिद्धियों के लिए नहीं है, तुम्हें ज्योतिष की ओर पूरा ध्यान लगाना चाहिए'. . . इनके बाद घण्टे-डेढ़ घण्टे तक बातें होती रहीं, बातचीत का सार यह निकला कि वे इन तांत्रिक विद्याओं को सीखना चाहते थे. . . इसके बदले में वे मुझे ज्योतिष और आयुर्वेद सिखाना चाहते थे। स्वामीजी जी चिकित्सा-क्षेत्र में अद्वितीय थे, यह मुझे बाद में पता चला।

'रत्न-औषधि' के क्षेत्र में निस्संदेह वे अद्वितीय थे, ऐसा कहने में मुझे कोई संकोच नहीं।

स्वामी जी का चिकित्सा करने का कार्य अद्भुत था। वे रोगी का हाथ या जन्म-पत्रिका देखकर ग्रहानुसार एवं दशानुसार चिकित्सा करते; उनके बारे में यह मशहूर था, कि जो रोगी स्वामी जी के आंगन तक पहुंच गया, वह मर नहीं सकता। असाध्य-से-असाध्य रोगों को भी वे एक-डेढ़ महीने में ठीक कर देते थे। वे एक विशेष प्रक्रिया से सूर्य गोलियां, चन्द्र गोलियां, मंगल गोलियां आदि नौ ग्रहों की गोलियां बनाते, यही नहीं वे दो प्रक्रियाओं को मिलाकर शनि-राहु गोलियां या मंगल-गुरु गोलियां भी

बनाते; इसी प्रकार तीन ग्रहों की संयुक्त गोलियां, पांच ग्रहों की संयुक्त गोलियां भी बनाते। इन गोलियों के प्रभाव का मुख्य हेतु है उन का अनुपात। अनुपात-भेद से प्रभाव में भी भेद हो जाता है।

ग्रहों से सम्बन्धित जो गोलियां बनाई जाती हैं, उनका भेद मैं पाठकों से छिपाना नहीं चाहता। ग्रहों से संबंधित गोलियां निम्न प्रकार से बनाई जाती हैं–

जिन ग्रह से संबंधित गोलियां बनानी हों, उस ग्रह से संबंधित रत्न लो, यथा– सूर्य के लिए माणिक्य, चन्द्र के लिए मुक्ता आदि। रत्न लगभग तीन से सात रत्ती का हो, साफ हो, प्रामाणिक हो, उज्ज्वल तथा ज्योतिष की दृष्टि से वह रत्न निर्दोष हो।

इसके बाद एक शीशी, शुद्ध अल्कोहल से धो लो तथा शीशी में दो ड्राम शुद्ध अल्कोहल ले लो और उसमें वह रत्न डाल दो, ऊपर कार्क लगा दो। कार्क इतना फिट होना चाहिए, कि उस शीशी में न हवा का प्रवेश हो, न रोशनी का। इसके बाद एक निश्चित अवधि तक (प्रत्येक ग्रह के लिए अलग-अलग दिन निर्धारित है) उस रत्न को उस शीशी में रखें, फिर उस अवधि के बाद उसमें से वह रत्न निकाल लें तथा उसमें दुग्ध-निर्मित शर्करा की गोलियां (जो पहले से बनी हुई तैयार हों) डाल दें, गोलियां इतनी डाली जायं जिससे कि वे अल्कोहल पूरा चूस लें। उन गोलियों को बाद में उस शीशी में से निकालकर एक साफ कागज पर सुखा दें। ये गोलियां छाया में ही सुखानी चाहिए। जब ये गोलियां पूरी तरह से सूख जायं, तब उन्हें एक दूसरी साफ शीशी में भर दें तथा उस पर सूर्य गोलियां या जिस ग्रह की गोलियां हों, उसका लेबल लगा दें। इस प्रकार से ये गोलियां तैयार होती हैं।

कई बार दो रत्नों को, तीन रत्नों को तथा सात रत्नों को मिलाकर भी गोलियां बनाई जाती हैं; जहां तक मेरा अनुभव है, ये गोलियां रामबाण होती हैं।

उदाहरणार्थ हार्ट-अटैक के मरीज के लिए या दिल की बीमारी के मरीज के लिए चन्द्र गोलियां रामबाण का सा असर करती हैं। इसी प्रकार स्नायु रोग के लिए सूर्य गोलियां अद्भुत लाभदायक हैं, देश के एक श्रेष्ठ

डॉक्टर को मैंने इस प्रकार की गोलियां अपने रोगियों पर प्रयोग करने हेतु दी थीं और उसका अद्भुत प्रभाव देखकर उसने कहा था— 'आप यदि इनका पेटेण्ट मुझे दे दें, तो मैं करोड़पति होकर दिखा सकता हूं तथा विश्वव्यापी कीर्ति प्राप्त कर सकता हूं।'

गुर्दा, कैंसर, कुष्ठ, संज्ञाहीनता, दमा, निद्राहीनता, मस्तिष्क रोग, पोलियो, क्षय, मधुमेह, लकवा, स्नायुरोग तथा हार्निया की चिकित्सा में जो मुझे यश मिला है तथा विशेषतः उपरोक्त लिखी हुई बीमारियों को समाप्त करने में मुझे जो सफलता एवं देशव्यापी सम्मान तथा यश मिला है, इसके मूल में ये ही गोलियां हैं। किस रोग या रोग की किस स्टेज में किन-किन रत्न-सम्मिश्रण की गोलियां देनी है, सफलता के मूल में यही तथ्य है. . . और इस सफलता का श्रेय श्री सीताराम जी स्वामी को है, जिन्होंने मुझे पुत्रवत् समझकर यह ज्ञान दिया और इस ज्ञान में किसी भी प्रकार का कोई लुकाव-छिपाव नहीं रखा।

सीतारामजी स्वार्थी व्यक्ति थे। उनका सिद्धान्त था, ज्ञान या विद्या का आदान-प्रदान तीन तरीकों से ही सम्भव है—

- ज्ञान का ज्ञान से आदान-प्रदान।
- ज्ञान का रुपयों से आदान-प्रदान।
- ज्ञान का सेवा से आदान-प्रदान।

मुझे भी उन्होंने चिकित्सा का ज्ञान तब दिया, जब उन्होंने मुझ से तांत्रिक विद्याएं सीखीं. . . और सीखीं ही नहीं, प्रयोग करके देखीं। जब उनको यह विश्वास हो गया, कि उन्होंने जो ज्ञान सीखा है, वह प्रामाणिक है, तभी उन्होंने मुझे चिकित्सा ज्ञान सिखाना प्रारम्भ किया।

वे तांत्रिक क्षेत्र में सम्मोहन विद्या के तीनों स्तर सीखना चाहते थे। कठोर-से-कठोर पाषाण हृदय पुरुष को भी पशुवत् सम्मोहित करना उनका अभीष्ट था. . . और इसके लिए उन्होंने मुझे गुरु भी बनाया, बताये हुए मार्ग के अनुसार कठोर साधना भी की तथा अपने अभीष्ट लक्ष्य में सफल भी हुए।

एक दिन मजेदार घटना घटी, जब वे सम्मोहन तंत्र सीख रहे थे;

उसकी प्रारंभिक स्टेज में ही थे; सम्मोहित करना तो सीख गये थे, पर सम्मोहन तोड़ने का ज्ञान नहीं आया था। उनके घर उनकी साली (पत्नी की बहन) आई, जिसकी हाल ही में शादी हुई थी, उसकी आयु लगभग सत्रह-अठारह वर्ष की रही होगी।

उन्होंने अपने प्रयोग की परीक्षा साली पर करनी चाही तथा प्रातः ही उसके नाम से सम्मोहन-तंत्र कर दिया। साली सम्मोहित हो गई और घर में उनके इर्द-गिर्द घूमने लगी. . . एक बार तो उसने स्वामीजी का हाथ ही पकड़ लिया। मैं उस दिन गांव के बाहर किसी कार्य से गया हुआ था। स्वामीजी की पत्नी ने यह देख लिया और उसने स्वामीजी को एक तरफ ले जाकर काफी बुरा-भला कहा, अपनी बहन को भी कहा. . . पर उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा, वह अपनी हरकतें ज्यों-की त्यों करती रही।

स्वामीजी रुआंसे होकर घर से चले गये। दो-तीन मिनट के बाद सम्मोहन से बंधी साली, जिसका नाम मोहिनी था, वह भी घर में सीतारामजी को न देखकर बाहर निकल पड़ी, उनके पीछे-पीछे।

सीताराम जी मंदिर पहुंचे, मोहिनी भी पीछे-पीछे मंदिर पहुंच गई; मोहिनी को वहां आई देख स्वामीजी घबरा गये और मोहिनी को तुरन्त वापस घर चले जाने को कहा. . . पर मोहिनी पर उसका कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। स्वामीजी मंदिर के पीछे बने अपने 'तपोवन' (कुटिया का नाम) में चले गये, मोहिनी वहां जा पहुंची। अब तो स्वामीजी वस्तुतः घबरा गये, कि लोगों ने देख लिया तो क्या होगा?

वे वहां से सीधे अपने घर में जाकर बैठ गये। मोहिनी भी घर वापस चली गई। स्वामीजी ने ऊपर अपने कमरे में घुसकर दरवाजा बंद कर दिया। शाम तक मोहिनी लगभग पचास बार चुपके-से बंद दरवाजा खटखटा आई थी. . . पर स्वामी जी ने दरवाजा नहीं खोला. . . पत्नी घबरा गई, कि कहीं अन्दर आत्महत्या न कर लें, उसने भी बाहर से दरवाजा खोलने का काफी अनुरोध किया. . . पर स्वामी जी ने एक ही बात कही— 'जब तक नारायण वापस नहीं लौटेंगे, मैं दरवाजा नहीं खोलूंगा।'

शाम को सात बजे के लगभग मैं घर पहुंचा, तब तक उनकी पत्नी का रो-रोकर बुरा हाल हो गया था। स्वामीजी अन्दर घुसे बैठे थे तथा

मोहिनी ने भोजन नहीं किया था। बड़ा पुत्र भरत भी पिता के व्यवहार से क्षुब्ध एवं आश्चर्यचकित था।

जब मैं घर पहुंचा, तो सीताराम की पत्नी ने स्वामीजी के प्रति आशंका प्रकट की, कि वे आत्महत्या करने पर तुले बैठे हैं और कह रहे हैं, कि जब तक नारायण दत्त नहीं आयेंगे, तब तक दरवाजा नहीं खोलूंगा। सुबह से कमरे में बंद हैं, भोजन भी नहीं किया।

मुझे इस सब की कोई जानकारी नहीं थी। मैं ऊपर पहुंचा, तब मोहिनी दरवाजा थपथपाकर निराश होकर सीढ़ियों से नीचे उतर रही थी। मैंने स्वामीजी को आवाज दी। आवाज सुनकर वे बाहर आये, मुझे अन्दर ले गये और तुरन्त दरवाजा बन्द कर दिया, बोले— 'सुबह से भूखा हूं, सो तो हूं ही. . . पर मेरी इज्जत मिट्टी में मिल रही है'. . . और उन्होंने मोहिनी पर जो प्रयोग किया था, वह सब कह सुनाया।

मुझे उस गंभीर वातावरण में भी हंसी आ गई। मैंने कहा— 'सम्मोहन मंत्र तो आप सीख चुके, पर सम्मोहन उच्चाटन आपने अभी तक कहां सीखा. . . अधूरा ज्ञान इसी प्रकार कष्ट देता है।'

मैंने उच्चाटन किया और इस प्रकार सम्मोहन समाप्त हुआ, सम्मोहन समाप्त होते ही मोहिनी निर्मल अवस्था को प्राप्त हुई और जब उसने यह सब सुना, तो लाज से गड़ गई और दूसरे ही दिन रवाना हो गई। स्वामीजी की पत्नी को जब इस सत्य घटना का पता चला, तब उसका सन्देहयुक्त चित्त निर्मल हुआ. . . और घर का वातावरण सामान्य हुआ। इसके बाद तो अधूरे ज्ञान के प्रयोग-परीक्षण न करने की स्वामीजी ने कसम-सी खा ली।

चिकित्सा के क्षेत्र में उनका अलौकिक ज्ञान था, और नाड़ी-विज्ञान में वे निष्णात थे। नाड़ी देखकर वे रोग की सही-सही स्थिति बता देते थे। नाड़ी-विज्ञान पर उन्होंने एक पुस्तक लिखी थी, जो अपने-आप में अद्भुत है। कापी के आठ सौ पन्नों पर उन्होंने उसके बारे में सूक्ष्मतम जानकारी, प्रयोग एवं अनुभव लिखे हैं. . . और मैं यह कहूं तो कोई अतिशयोक्ति नहीं है, कि इस लुप्त ज्ञान 'नाड़ी विज्ञान' पर लिखा यह ग्रंथ पूरे विश्व में अद्भुत है और संसार में इसकी टक्कर का कोई दूसरा ग्रंथ नहीं होगा।

मेरे अनुरोध पर उन्होंने कापी के वे आठ सौ पृष्ठ मुझे दे दिये, इस शर्त पर कि उन्हें प्रकाशित नहीं करवाऊंगा। बाद में मेरी प्रार्थना पर उन्होंने यह कहकर दिया, कि मेरे जीते-जी इसे प्रकाशित न करावें, पर जब भी स्वामीजी ब्रह्मलीन हो जायं इसके एक वर्ष बाद इस ग्रंथ का प्रकाशन करा दिया जाय। पता नहीं इसके पीछे उनका क्या उद्देश्य था . . . अस्तु।

मैं स्वामीजी के घर तीन महीने से कुछ ज्यादा ही रहा। इस अवधि में उन्होंने मुझसे पूर्ण तांत्रिक विद्याएं सीखीं, और मुझे चिकित्सा-ज्ञान दिया। असाध्य से असाध्य रोगों पर उनकी चिकित्सा सोलहों आने सही थी। पिछले दो-तीन वर्षों में मुझे अस्थमा रोग के उपचार में विशेष सफलता का जो यश मिला, उसके मूल में इन स्वामीजी का ही नुस्खा था। इस प्रकार के सैकड़ों नुस्खे उन्होंने मुझे सिखाये, अपने सामने प्रयोग कराये, नाड़ी-ज्ञान दिया, नौली क्रिया सिखाई तथा जड़ी-बूटियों से परिचित कराया। वस्तुतः स्वामी जी 'गुप्त धन्वन्तरी' थे, जिनका नाम सही रूप में सामने नहीं आ सका. . . और वे स्वयं प्रच्छन्न ही रहना चाहते थे, पर उनके ज्ञान का प्रमाण 'नाड़ी विज्ञान' हस्तलिखित ग्रंथ मेरे पास है और समय मिलने पर संपादित कर उनके नाम से ही प्रकाशित कराऊंगा, यही उनके प्रति मेरी सच्ची श्रद्धांजलि होगी।

चित्त-सञ्चार

दूढ़ियारी गांव में ही घूमते-घामते आए बाबा हरिओम से साक्षात्कार हुआ, परिचय बढ़ा और आगे की यात्रा के लिए मैं उनके साथ हो लिया।

हरिओम बाबा मानसरोवर जा रहे थे। मेरी भी कई दिनों से साध थी, मानसरोवर जाकर कैलाश पर्वत के दर्शन करने की, शिव स्थल में विचरण करने की। किसी का सहयोग चाहता था. . . और जब मैंने सुना कि वे मानसरोवर जा रहे हैं, तो मुझे मनोवांछित स्वप्न साकार होना प्रतीत हुआ. . . और मैं उनके साथ हो लिया।

यहां मैं बाबा का संक्षिप्त परिचय दे दूं। बाबा सही अर्थों में औघड़दानी थे, पूरे मस्तमौला, फक्कड़, प्रसन्न हो जायं तो अपना सब कुछ लुटा दें, पहनने के कपड़े भी, अगर नाराज हो जायं, सामने वाले को चीर कर रख दें. . . कोई दया ममता नहीं। कब उनका मूड बदल जायगा कुछ पता नहीं। उनके सत्संग से कई छोटी मोटी चोटों के निशान मेरे शरीर पर उनकी यादगार के रूप में सुरक्षित हैं. . . और प्रसन्नता के क्षणों में उन्होंने जो कुछ मुझे दिया है, उनके सामने त्रैलोक्य की सम्पदा भी तुच्छ है, नगण्य है।

बाबा ब्राह्मण शरीर थे। उत्तर-प्रदेश के काशी के आसपास किसी गांव में उनका जन्म हुआ था, ऐसा उन्होंने मुझे एक बार बताया था। जब वे तेरह साल

मान के थे, तभी घर से निकल पड़े थे और आज तक वापस घर नहीं लौटे थे। हिमालय उनका घर बन गया था। हिमालय का चप्पा-चप्पा उनके ध्यान में था। हजारों साधु-सन्तों से व्यक्तिगत परिचय था, साधना के उच्च सोपान पर चल रहे थे।

अपने जीवन में उन्होंने दस हजार शिवलिंग स्थापित करने का व्रत लिया था। वे जब भी हिमालय से नीचे उतरते, देश के कोने-कोने में घूमते। जहां कर शिवलिंग स्थापित कर (हो सके, तो छोटा-सा मंदिर बनवा कर) वापस हिमालय की ओर बढ़ जाते। शिव के परम भक्त थे, जब धुन में होते तो मधुर कंठ से रावण-कृत शिव-ताण्डव स्तोत्र इतनी मधुरता से गाते, कि सारा वातावरण शिवमय हो जाता। स्तोत्र बढ़ता रहता, वे गाते रहते, उनके गाने में लोच थी। दयालु शंकर ने उनके स्वर में गजब मिठास भर दी थी—

जटा कटाह संभ्रम भ्रमन्निलिम्प निर्झरी
विलोल वीचि वल्लरी विराजमान मूर्धनि।
धगद्धगद्ध गज्ज्वल ललाट पट्ट पावके
किशोर चन्द्र शेखरे रतिः प्रतिक्षणं मम।।

धरा धरेन्द्र नंदिनी विलास बंधु-बंधुर,
स्फुरद्दिगंत संतति प्रमोदमान मानसे।
कृपा कटाक्ष धोरणी निरुद्ध दुर्धरापदि
क्वचिद्चिदंबरे मनो विनोदमेतु वस्तुनि।।

एक दिन मैंने पूछा— 'बाबा! आपने कभी शिव के दर्शन किये हैं?'

बोले— 'कई बार. . . क्या तुम करना चाहते हो?'

— 'हां बाबा।'

— 'अच्छा, कल कराऊंगा।'

दूसरे दिन मैं स्नान कर उनके सामने बैठ गया। वे स्वयं [illegible] की स्थिति में थे, बोले— 'ध्यान करो, मैं तुम्हें अपने साथ ले चलता हूं।'

दूसरे ही क्षण ऐसा प्रतीत हुआ, जैसे किसी ने मेरे प्राणों को शरीर में से खींच लिया हो. . . और प्राण [illegible]

हो गये थे. . . और दूसरे ही क्षण क्या देखता हूं, कि सामने ही कैलाश है. . . उत्तुंग श्रृंग. . . हिमाच्छादित. . . सामने शिव बैठे हैं समाधिस्थ. . . तन्मय हो मैं एक पैर पर खड़ा हो गया. . . उस एक क्षण का वर्णन करना इस लेखनी के वश की बात नहीं—

असित गिरि समं स्यात्कज्जलं सिन्धुपात्रे,
सुरतरुवर शाखा लेखिनी पत्रमुर्वी।
लिखति यदि गृहीत्वा शारदा सर्वकालं;
तदपि तव गुणानामीश पारं न याति।।

दूसरे ही क्षण ऐसा लगा, जैसे कोई पीछे खींच रहा हो। प्राण पुनः शरीरस्थ थे। कंधे पर बाबा का हाथ था, और पूछ रहे थे— 'कुछ देखा?'

मैंने घड़ी देखी, इस सारे व्यापार में तीन से चार मिनट लगे थे। मैं एक अनिर्वचनीय आनन्द से पुलकित हो रहा था, बोला— 'हां बाबा।'

मैंने उठकर बाबा की परिक्रमा की और उनके सामने हाथ जोड़कर बैठ गया; पूछा— 'बाबा! क्या कोई ऐसी साधना है, जिससे जब चाहूं ऊर्ध्वलोक की यात्रा कर सकूं?'

— 'हां, है।'

— 'क्या मुझे आप यह भिक्षा देंगे?'

— 'सिखा दूंगा. . . सब कुछ बता दूंगा. . . निश्चिंत रहो!'

बाबा का आशीर्वाद पाकर मैं कृतकृत्य हो गया।

यह बाबा की ही मान्यता थी ''यदि दुनिया में सुखपूर्वक रहना चाहो, तो विरोधी स्थितियों में रहो। अगर तुममें कुछ सिद्धि है, तो भूलकर भी उसका प्रदर्शन मत करो, अत्यन्त साधारण स्थिति में रहो। यदि किसी विषय के ज्ञाता हो, तो उस विषय में अज्ञानी बने रहो। यदि दुनिया में आराम से जीवित रहना है, तो साधारण, अत्यन्त साधारण बनकर रहो, जिससे तुम्हारी वास्तविकता खुल न जाय।''

मैंने बाबा की यह बात गांठ बांध ली। वास्तव में बाबा के कथन में उनके जीवन का सही अर्थों में अनुभव था।

और इस कथन की सत्यता का प्रमाण भी एक वर्ष पहले मिल गया। मैंने

एक नई पद्धति तैयार की थी, 'त्रैलोक्य दीपक' काफी परिश्रम किया था इस पर। इस पद्धति के माध्यम से किसी भी स्थान का, किसी भी समय का, किसी भी वस्तु का भाव ज्ञात किया जा सकता है। उदाहरणार्थ बारह दिसम्बर उन्नीस सौ चौहत्तर को दिन के तीन बजे जोधपुर में तिल्ली के तेल का क्या भाव होगा, यह आसानी से ज्ञात किया जा सकता है। इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु का किसी भी दिन का भाव ज्ञात किया जा सकता है। व्यापारियों के लिए तो दो पैसे की घटा-बढ़ी भी लाखों के वारे-न्यारे करनेवाली होती है। मैंने इस 'त्रैलोक्य दीपक यंत्र' का सौ बार परीक्षण किया और सौ बार ही शत-प्रतिशत सही फल निकला। एक पैसे का भी अन्तर नहीं रहा।

मेरे सचिव ने इसका प्रचार कर दिया। लोगों को ज्ञात हुआ, तो दो-चार व्यापारी आये, उन्हें भाव बताये, और वे पूर्णतः सही रहे। उन्होंने अन्य लोगों से कहा. . . और इस प्रकार एक सप्ताह में पूरे शहर में, विशेषकर व्यापारी वर्ग में इसकी चर्चा थी।

भीड़ बढ़ने लगी, मैं यथासम्भव भीड़ से बचना चाहता हूं, पर स्वार्थ बुरा होता है। व्यापारी-वर्ग प्रातः चार बजे से रात बारह बजे तक अतिथि-कक्ष में आते रहते, बैठे रहते— मेरी पूजा में भी व्यवधान पड़ने लगा— आराम करना कठिन हो गया— और एकान्त के क्षण मिलने मुश्किल हो गये।

अब तो स्थिति यह हो गई कि रात के दो बज रहे हैं, और स्वार्थी व्यापारी अगले दिन प्रातः खुलने वाले तथा बंद होने वाले भावों की जानकारी के लिए द्वार खटखटा रहे हैं. . . मेरा सोना हराम हो गया. . . बाबा का कथन स्मरण हो आया— 'यदि दुनिया में सुख से जीवित रहना है, तो साधारण बन कर रहो, वास्तविकता पर परदा डाले रहो'. . . और दूसरे दिन ही से मैंने इस प्रक्रिया से अपना हाथ खींच लिया, कहा— 'अब मुझे समय कम मिलता है, मैं भाव निकालने में समय नहीं दे सकता।' काफी परिचित नाराज हो गये। तीन-चार महीने बाद इससे पिण्ड छूट सका. . . अस्तु।

बाबा कहा करते थे, कि हिमालय का कुछ भाग छोड़कर बाकी का सारा भू-भाग दूषित है। सुई के बराबर भी भाग ऐसा नहीं है, कि जहां बैठ कर साधना की जा सके, क्योंकि हजारों-लाखों वर्षों में प्रत्येक स्थान पर प्राणी, मनुष्य, पशु, पक्षी, कीटादि मरते रहे हैं, दफन होते रहे हैं— पृथ्वी दूषित होती रही है; अतः ऐसा

कोई भाग नहीं बचा, जो निर्दोष हो, पवित्र हो, साधना-स्थली हो। उदाहरणार्थ— जहां हम-आप खड़े हैं, उसके नीचे हजारों-लाखों वर्षों में न मालूम कितने ही प्राणी दफन हुए होंगे— अतः बाबा पृथ्वी पर नहीं, पृथ्वी से एक गज ऊपर अधर में स्थित होकर साधना करते थे। मैंने पहले-पहल जब उन्हें 'शून्य सिद्ध' साधना द्वारा शरीर को वायु से हल्का कर अधर में आसन लगाकर ध्यानस्थ होते देखा, तो आश्चर्यचकित रह गया था. . . वे डेढ़-दो घण्टे तक शून्य सिद्ध रहे और फिर धीरे-धीरे पृथ्वी पर उतरे।

जब वे ध्यान-मुद्रा से निवृत्त होकर चैतन्य हुए, तो मुझे देखकर बोले— 'क्यों, बावला-सा क्या देख रहा है?'

मैं प्रणिपात होकर बोला— 'बाबा! यह कौन-सी साधना है, जिससे शरीर इच्छानुकूल वायु से हल्का किया जा सकता है तथा अधर में स्थित होना सम्भव होता है।'

बाबा मूड में थे, बोले— 'शून्य सिद्ध साधना द्वारा।'

— 'क्या मैं इस साधना का अधिकारी हूं, बाबा!'

— 'क्यों नहीं, अभ्यास से सब कुछ सम्भव है।'

— 'यह 'शून्य सिद्ध साधना' क्या है बाबा!'

— 'हमारे शरीर में या यों कहें, कि हमारा शरीर पांच तत्त्वों से मिलकर बना है। इसमें एक तत्त्व वायु है, और चार तत्त्व अन्य हैं। पहले इन चार तत्त्वों को वायु-तत्त्व के अनुकूल बनाया जाता है— और जब एक ही तत्त्व, वायु तत्त्व रह जाता है, तो उसे सेचन-क्रिया द्वारा हल्का किया जाता है। इस प्रकार पूरा शरीर ही वायु सा हल्का हो जाता है। ऐसी स्थिति में इस पार्थिव शरीर को जितना भी चाहे ऊपर उठाया जा सकता है, इधर-उधर ले जाया जा सकता है'. . . और इस प्रकार प्रयोगों द्वारा बाबा ने शून्य सिद्ध साधना की जानकारी दी।

इस साधना को उन दिनों बाबा के निर्देशन में किया भी था, और इतनी क्षमता भी उत्पन्न की थी, कि पृथ्वी तथा मेरे शरीर के बीच में से स्केल निकल सके, पर यह साधना जरूरत से ज्यादा जटिल, कठिन एवं दुर्बोध है। बिना गुरु के मार्ग-निर्देशन के यह कतई सम्भव नहीं। इसके लिए शरीर को काफी लचीला बनाना पड़ता है, पर बाबा का साहचर्य-सम्पर्क छूटने के बाद इस साधना को नियमित न रख सका— और इस क्षेत्र में सफल न हो सका, इस बात का मुझे आज रह रह के

दुःख है।

बाबा साधना क्षेत्र में काफी ऊंचे उठे हुए थे। ऊपर से दिखने में वे एक सामान्य प्राणी ही लगते, उनमें कोई विशिष्टता नजर नहीं आती। उनके जीवन का एक प्रसंग मुझे उनके शिष्य 'कालीचरण' से सुनने को मिला था—

उन दिनों बाबा कलकत्ता में वास करते थे। एक साधारण-सी धोती और ऊपर से छोटा-सा अंगोछा। एक दिन कलकत्ते के बड़े सेठ उनके दर्शन करने के लिए आये। सेठजी ने इन की ख्याति कहीं सुन रखी थी... पर जब प्रत्यक्ष दर्शन में सेठजी ने इन्हें देखा, तो उन्हें बाबाजी एक सामान्य संत ही प्रतीत हुए, सेठजी ने जाते वक्त इनकी फटी धोती देखकर कहा— 'बाबाजी! धोती फट गई है, कल नई भिजवा दूंगा।'

बाबाजी मुस्करा कर रह गये, बोले नहीं।

दूसरे दिन जब सेठजी आये, तो अपने साथ दो धोती भी लेते आये थे। बाबा लगभग प्रवचन समाप्त कर चुके थे। सेठजी ने अपनी अहंमन्यता जताने के लिए सबके सामने धोती का जोड़ा बाबा जी के सामने अविनीत भाव से रख दिया। बाबा ने नजरें उठाकर ऊपर देखा... और गुस्से में भरकर धोती के जोड़े को उठाकर दूर फेंक दिया, बोले— 'तू क्या मुझे पहनायेगा रे! ले'...

और लोगों ने देखा, कि आकाश मार्ग से लगातार धोतियां, कुर्तों के कपड़े, अंगोछे आदि वस्त्र गिरने लगे... और देखते-देखते वस्त्रों का पांच-छः फीट ऊंचा ढेर-सा लग गया।

बाबा उठकर अन्दर चले गये, और अंदर से दरवाजा बंद कर लिया।

सेठ पानी-पानी हो गया। उसने दरवाजे के बाहर से काफी प्रार्थना की, रोया पर बाबा नहीं पसीजे... और प्रचार-भय के कारण बाबा ने उसी रात कालीचरण के साथ कलकत्ता छोड़ दिया और फिर कभी कलकत्ता नहीं गये।

एक बार बाबा के सामने महाभारत की चर्चा चल पड़ी। बाबा सोए हुए थे, मैं उनके पैर दबा रहा था। मैं जिज्ञासावश प्रश्न पूछता जाता, बाबा उत्तर देते जाते थे; जब महाभारत की चर्चा चली, तो मैंने पूछा— 'क्या बाबा यह सत्य है, कि महाभारत युद्ध हुआ था, और इतनी मारकाट मची थी?'

बाबा दो क्षण रुके— 'बोले ध्वनि अपने-आपमें अखण्ड है, वह कभी भी नष्ट नहीं होती। ध्वनि कालक्रम में नष्ट नहीं होती, हजारों वर्ष पहले भी जो ध्वनियां उच्चरित हुई थीं, वे आज भी ज्यों की त्यों वातावरण में सुरक्षित हैं। आज हम जो परस्पर वार्तालाप कर रहे हैं, वह लाखों वर्ष बाद भी ज्यों-का-त्यों सुना जा सकता है'— फिर एकाएक उठते हुए बोले— 'तुम महाभारत की ध्वनियां सुनना चाहते हो, श्रीकृष्ण और अर्जुन के बीच जो वार्तालाप हुआ था, उसे सुनना चाहते हो?'

— 'बहुत उपकार होगा, यदि आप मुझे यह सौभाग्य दें तो।'

बाबा ने मुझे अपने पास खींच लिया और मेरी आंखों पर हौले-से हाथ फेरा, एकाएक जैसे चमत्कार हो गया। ऐसा प्रतीत हो रहा था, जैसे मैं किसी अन्य लोक में होऊं— मेरे सामने कौरव-पाण्डव युद्ध हो रहा था... पाण्डवों की सेना के बीचोंबीच श्रीकृष्ण सारथी बने रथ पर बैठे हैं, अर्जुन प्रश्न कर रहे हैं, और श्रीकृष्ण हाथ उठाकर पीछे मुड़कर उसे उत्तर दे रहे हैं... चारों तरफ एक अजीब-सा वातावरण अनुभव हो रहा है, परस्पर मार-काट की ध्वनियां, चीत्कारें साफ सुनाई दे रही हैं। अर्जुन का प्रश्न और श्रीकृष्ण का उत्तर पूर्णतः कर्णस्पर्श हो रहा है— दूसरे ही क्षण मेरी आंख खुल गई, मेरे सामने मात्र बाबा बैठे हुए थे और मंद-मंद मुस्करा रहे थे, चलचित्र की तरह दृश्य बदल गया था। अभी-अभी जो देखा था, वह कितना भव्य था! क्या ऐसा दृश्य देखना सभी के प्रारब्ध में है? सोचकर मुझे रोमांच हो आया। प्रेमाधिक्य से मेरी आंखों से आंसू बहने लगे और मेरा सिर बाबाजी के चरणों में झुक गया। आंखों के अश्रुकण बाबा के पादपद्म भिगोने लगे... और बाबा का वरद हस्त मेरी पीठ पर फिर रहा था। मैं कितना सौभाग्यशाली हूं, कि मुझे इस जीवन में बाबा के चरणों में बैठने का सौभाग्य मिला।

जैसा कि मैं पहले ही कह चुका हूं— बाबा औघड़ दानी थे। प्रसन्न होते तो सब कुछ लुटा देते, पहनने की लंगोट तक दे देने में संकोच नहीं करते थे, और जब अप्रसन्न हो जाते, तो उस समय उनके हाथ में जो भी होता, फेंक देते या आसपास जो भी चीज होती, उठाकर सामने वाले के सिर पर दे मारते, चाहे फिर भले ही उससे सामने वाले का सिर ही क्यों न फट जाय। बाबाजी के द्वारा अप्रसन्नता के क्षणों में फेंकी गई चीजों से जो चोटें या घाव मेरे शरीर पर बने, वे आज भी उनके स्मृति-चिन्हों के रूप में मेरे शरीर पर अंकित हैं।

बाबाजी काफी वृद्ध थे। मैं नहीं कह सकता कि उनकी आयु कितनी थी, और न कभी पूछने का साहस ही हुआ, पर उनके सिर के बाल पूर्णतया शुभ्र हिमवत

श्वेत थे, भौंहों के बाल तक सफेद हो गये थे। निश्चय ही उनकी आयु सौ-सवा सौ वर्षों से ज्यादा ही होगी, पर इतनी वय होने पर भी उनमें बालसुलभ चंचलता थी। मुंह में पूरे के पूरे छोटे-छोटे दांत सुरक्षित थे, आंखों में तेज एवं चमक थी, जो अंधेरे में भी दृष्टिगोचर होती थी तथा शरीर में बल एवं पुरुषार्थ था, जो इतनी अगम्य चढ़ाई सहज ही चढ़ने पर भी हांफते नहीं थे, मुझ से दो कदम आगे ही रहते। मैं जब चढ़ाई चढ़ते-चढ़ते थक जाता, तो वे मुझे बैठ कर विश्राम करने को कहते और स्वयं भी बैठ जाते. . . और थोड़ा विश्राम लेकर जब मैं उनके पांव दबाने का प्रयत्न करता, तो वे खिलखिलाकर हंस पड़ते. . . और उठकर मेरे आगे दौड़ने लगते।

बाबा अतीन्द्रिय ज्ञान में सिद्ध थे और इसका उन्हें उच्च ज्ञान था। सामने वाले के मन की बात जान लेना इस साधना से सहज सम्भव है— इतना ही नहीं, दूरस्थ व्यक्ति के बारे में चिन्तन कर, उस समय उसके मन में क्या विचार उठ रहे हैं, जान लेना कोई कठिन नहीं रह गया है। आजकल परामनोविज्ञान की शाखाएं खुल रही हैं, जयपुर विश्वविद्यालय में भी कुछ वर्षों तक इस पद्धति पर कार्य हुआ था। अमेरिका के ड्यूक विश्व विद्यालय के प्रो० राइन इस प्रकार के नये शास्त्र के वहां प्रवर्तक माने जाते हैं, और आजकल तो वहां इसकी कई शाखा-प्रशाखाएं खुल गई हैं। इन दिनों रूस में इस विषय पर अत्यधिक आधुनिक तरीके से कार्य हो रहा है।

परामनोविज्ञान की शोध ने यह सिद्ध कर दिया, कि मनुष्य सामान्य प्रयत्न से कई विलक्षण कार्य कर सकता है, चित्त एकाग्र कर वह आश्चर्यजनक करिश्मे दिखा सकता है। मेरे इन्दौर प्रवास के समय एक नवयुवक इस विद्या की जिज्ञासा लेकर मेरे पास आया। वह किसी भी कीमत पर इस विद्या को सीखना चाहता था। मैंने परीक्षा अपने ढंग से ली, तो वह इसमें सफल उतरा। मैंने उसे चित्त एकाग्र कर चित्त-शक्ति का अभ्यास करना सिखाया। मात्र सात दिनों में ही वह इसके माध्यम से टेबल पर पड़ी पेंसिल को खड़ी कर सकने में सफल हो गया। कहने का तात्पर्य यह है, कि यदि प्रबल इच्छा हो, तो कोई भी व्यक्ति इसमें सफल हो सकता है।

पिछली फरवरी में ही दिल्ली में मुझे 'अन्धचक्षु षणमुखेश्वर स्वामी' से मिलने का सौभाग्य मिला था। उन्होंने कई उच्चस्तरीय व्यक्तियों एवं पदाधिकारियों के सामने इस शक्ति के माध्यम से दस मन वजन के पत्थर को तोड़कर बता दिया था। मात्र नेत्र भेदन शक्ति से दूर बैठे-बैठे बंद सांकल चढ़े किवाड़ को खोलकर बता दिया था तथा कौन सा व्यक्ति क्या-क्या सोच रहा है, इसे सबके सामने बताकर आश्चर्यचकित कर दिया था।

मेरे कहने का तात्पर्य है, कि अब यह विद्या गोपनीय नहीं रही। इस विद्या की शक्ति आश्चर्यचकित कर देने वाली है, अस्तु।

हां, तो मैं बाबा के बारे में कह रहा था। परामनोविज्ञान के बारे में सर्वप्रथम मैंने बाबा से ही जाना था। वे इस विद्या के माहिर थे। मेरी डायरी में कौन-कौन से पते-ठिकाने लिखे हुए हैं, वे सब बाबा ने चित्त एकाग्र कर परामनोविज्ञान के माध्यम से सहज ही बता दिए थे। यही नहीं, अपितु किस पृष्ठ पर क्या लिखा है, यह भी बिना डायरी खोले ही बाबा ने बताकर इस विद्या की प्रामाणिकता स्पष्ट कर दी थी।

मानसरोवर की यात्रा के बीच बाबा ने इस विद्या की जानकारी मुझे दी थी, केवल जानकारी ही नहीं दी, चित्त एकाग्र करने की विधि भी बताई, और अपने सामने बिठाकर इसका प्रयोग भी करवाया। जब बिन्दु एकाग्र का अभ्यास हो गया, तब 'संवित् साधना' सिखाई, और इसका ज्ञान होते ही ऐसा प्रतीत होने लगा, मानो मैं अपनी आत्मा का तादात्म्य दूसरी आत्मा से कर सकता हूं। इसके बाद जब भी किसी दूसरे व्यक्ति या साधु को देखता, तो तुरन्त उसके मन में उठ रही भावनाओं-विचारों को जान लेता— जब इसका अभ्यास बढ़ गया, तो फिर दूरस्थ परिचित का ध्यान करते ही उसके मन की बात जानना सहज-गम्य हो गया। इस अभ्यास के बाद कई बार मैं अपनी पत्नी के विचार, मां के विचार यहीं इतनी दूर बैठे-बैठे जान लेता।

मानसरोवर की यात्रा जितनी कष्टकर है, उतनी ही आनन्ददायक भी, जितनी सुरम्यता, शांति एवं पवित्रता यहां पर है, उतनी कहीं नहीं। जहां तक मेरा अनुभव है, चित्त-एकाग्रता का अभ्यास करने के लिए ऐसे स्थान सर्वोत्तम हैं, इसमें सन्देह नहीं।

केवल बाबा की सिद्धियों के बारे में ही उल्लेख करूं, तो एक पूरा ग्रंथ बन सकता है। वे एक बार 'गन्ध तन्मात्र सिद्धि' के बारे में बात कर रहे थे। बाबाजी ने बताया, कि इससे शरीर में या हाथ में जैसी भी चाहें, गंध उत्पन्न की जा सकती है और उस समय जिसे भी स्पर्श किया जाय, वह अक्षुण्ण गंधमय हो सकता है।

ऐसा कहते-कहते बाबा ने अपनी दोनों हथेलियां रगड़ी और दाहिनी हथेली मेरे सामने कर दी. . . लगभग चार फीट की दूरी पर मैं बैठा था और तीव्र वेग से गुलाब की गंध आ रही थी– 'क्या गुलाब की सुगंध आ रही है?'

– 'हां बाबा।'

– 'और अब?'

इस बार उन्होंने पुनः हथेलियां रगड़ कर दाहिनी हथेली ही मेरे सामने की थी. . . और इस बार चतुर्दिक् वातावरण में कस्तूरी की सुगंध व्याप्त हो गई थी। बाबा में यह अद्‌भुत क्षमता थी और एक क्षण में ही वे मनचाही सुगंध पैदा करने में सक्षम थे।

कई वर्षों बाद एक सत्रह-अठारह साल की बाला ने यही साधना बताकर मुझे चकित कर दिया था। मार्च १९७२ की घटना है, मैं अपने कमरे में बैठा लिख-पढ़ रहा था, शाम के सात-साढ़े सात बजे का समय होगा। एक फौजी अधिकारी तथा उसके साथ सत्रह-अठारह साल की एक बाला ने कमरे में प्रवेश किया। मैंने उनकी अभ्यर्थना की, बैठाया; वह बाला जिसका नाम 'शक्ति भट्‌टाचार्या' था, बोली– 'ये मेरे पति हैं, मेरा इनका प्रेम-विवाह है। मेरा नाम शक्ति भट्‌टाचार्या है, बंगाल की रहने वाली हूं।'

बाद में पता चला, कि फौजी अधिकारी की उम्र तिरपन वर्ष की थी, रिटायर होने वाले थे। पहली पत्नी का देहान्त हो गया था। उन दिनों बंगाल की तरफ उनकी पोस्टिंग थी, अतः वहीं उन्होंने शक्ति से लव मैरेज कर ली थी। अब जोधपुर में हैं।

शक्ति बोली– 'डॉ० साहब! ज्योतिष के क्षेत्र में आपका नाम काफी सुना है। बंगाल की पत्र-पत्रिकाओं में भी आपकी भविष्य-वाणियां छपती रही हैं, और समय-समय पर वे असाधारण रूप से सत्य सिद्ध होती देखी गई हैं। मुझे हस्तरेखा में शौक है और इस क्षेत्र में काफी कुछ जाना भी है। अब मैं ज्योतिष सीखना चाहती हूं. . . क्या सप्ताह में एक-दो दिन मुझे दे सकते हैं, घण्टे-आध घण्टे के लिए; मुझे ज्योतिष सिखाइये न प्लीज।'

मैं चुप रहा।

– 'मैं आपकी शिष्या बनना चाहती हूं, यों मैं आपकी अयोग्य शिष्या नहीं होऊंगी, मुझे हस्तरेखा के बारे में थोड़ा-बहुत ज्ञान है, क्या आप अपना हाथ मुझे दिखायेंगे।'

– 'मिसेज भट्‌टाचार्या! मुझे अपने भूत एवं भविष्य के बारे में ज्ञान है, और मैं अपने ज्ञान पर आश्वस्त हूं– आप इनका हाथ देखकर बताइये।'

मैंने अपने पास बैठे सज्जन की ओर इशारा किया।

मेरे पास जो सज्जन बैठे थे, वे पी.डब्ल्यू.डी. में मात्र क्लर्क थे, तनख्वाह थी ढाई सौ के लगभग, पर थे रंगीन तबीयत के, कुंआरे, शानदार कपड़े पहने हुए, हाथ में सोने की अंगूठी नकली हीरा जड़ा हुआ।

शक्ति ने उनकी तरफ देखा, और दो मिनट उसका हाथ देखती रही।

मैंने मात्र परीक्षार्थ असत्य का आश्रय लेते हुए रद्दा जमाया– 'आप हैं गोपाल पुरोहित, आकाशवाणी के उच्च अधिकारी फर्स्ट ग्रेड।'

मिसेज भट्‌टाचार्या हंसी– 'डॉ० साहब! आप भी झूठ बोल सकते हैं, यह व्यक्ति अपने जीवन में उच्च अधिकारी नहीं बन सकता. . . आर्डिनरी क्लर्क, हेडक्लर्क तक हो सकता है और जीवन भर इसकी तनख्वाह साढ़े चार सौ से आगे नहीं बढ़ सकती. . .।'

मैंने कहा– 'तो मिसेज भट्‌टाचार्या! आप हाथ देखने का बहाना कर रही हैं, आपको कर्ण पिशाचिनी सिद्ध है, क्यों है न।'

शक्ति हंस दी– 'आपसे क्या छिपाऊं डॉ० साहब! और उसने हाथ छोड़ दिया।'

फिर कहा– 'आप एक गिलास ताजा जल मंगवा सकते हैं?'

मैंने अन्दर से जल मंगवा लिया।

उसने पानी से भरे गिलास पर एक मिनट हाथ रखा। गंध तन्मात्र सिद्धि स्मरण की. . . और जब हाथ हटाया, तो पानी में से गुलाब की महक आ रही थी। सारा कमरा सुवासित हो उठा था, ताजे गुलाबों की सुगंध बाहर तक महक रही थी।

मैं मुस्करा दिया।

शक्ति बोली– 'मैं तो शिष्या बनने की परीक्षा दे रही हूं, उत्तीर्ण अंक मिल जायं, तो शिष्या बना देना।'

तभी मेरे एक डॉक्टर मित्र मिलने आये, पूर्ण भौतिकवादी, तंत्र-मंत्रों के प्रति पूर्ण अनास्थावादी।

मैंने कहा— आइये डॉ० साहब!. . . और उनका परस्पर परिचय करवा दिया।

डॉक्टर ने कहा— 'सब पाखण्ड है, हाथ की सफाई है, उल्लू बनाने के तरीके हैं।'

मैं शान्त था, पर शक्ति को सम्भवतः कुछ रोष आ गया था, नया-नया खून था न! बोली— 'जरा बाथरूम तो जा आइये।'

— 'क्यों?'

डॉक्टर बोले— 'मुझे इस समय जाने की जरूरत नहीं है।'

'नहीं जायेंगे, फिर पछतायेंगे'— कहे देती हूं।

मेरे कहने पर डॉक्टर साहब बाथरूम गये, पर उल्टे पांवों लौट आये, बदहवास से, चिन्तातुर, घबराये हुए से. . .

बोले— 'डॉ० श्रीमाली! जरा यहां आना।'

मैंने कहा— 'क्यों? क्या बात है?'

— 'आप आइये तो सही, अत्यंत जरूरी है।'

मैं उनके साथ बाहर निकला, बोले— 'डॉक्टर! यह कौन है?'

— 'क्यों?'

— 'शायद इसने कुछ कर दिया है, मैं तो पुरुष ही नहीं रहा. . . मेरी तो मूत्रेन्द्रिय ही गायब है, मैं पुलिस में रिर्पोट करता हूं।'

— 'पर सिद्ध कैसे होगा, कि आपके साथ यह व्यवहार इसी ने किया, और फिर वह उच्च मिलिट्री ऑफिसर की पत्नी है।'

वे और घबरा गये— 'तब फिर?'

मैं उनको अन्दर लाया, पर उनके होश ठिकाने नहीं थे।

मैंने बात संवारी— मिसेज भट्टाचार्या! क्या आपने यह तान्त्रिक प्रयोग. . .'

— 'हां। डॉक्टर साहब! मैं किसी पुरुष को स्त्रीवत् तो बना सकती हूं, पर वापस पुरुष नहीं बना सकती। इस तंत्र का ज्ञान मुझे अधूरा ही मिला हुआ है।'

अब तो डॉक्टर साहब और घबरा गये, चेहरा रोने जैसा हो गया, ललाट पर पसीना छलछला आया, बार-बार उनका हाथ नीचे गुप्तेन्द्रिय पर जाता. . . और फिर दुगने परेशान हो उठते।

— 'डॉ० श्रीमाली! मुझे खेद है, कि मैं आपके यहां आ गया, आपने कैसे-कैसे तान्त्रिकों को इकट्ठा कर रखा है।'

— 'पर आप तो तंत्र-मंत्र में विश्वास ही नहीं करते?'

— 'हाथ कंगन को आरसी क्या? अब तो कर ही रहा हूं, मैं जीवन भर आपका गुलाम रहूंगा, मुझे पूर्ववत कर दें, बस।'

भट्टाचार्या हंस दी, मेरी तरफ देखा और संकेत पाकर कहा— 'अच्छा डॉक्टर साहब! एक बार फिर बाथरूम जा आइये।'

वे गये और लौटे, तो उनकी चिन्ता कुछ कम हो गई थी, वे पूर्ववत् पुरुष बन गये थे, गुप्तेन्द्रिय अपने स्थान पर थी. . . और जब वे आश्वस्त हो गये, तो बोले— 'अच्छा, डॉ० श्रीमाली! इजाजत दें,' और मैं कुछ कहूं तब तक तो वे बैग लेकर कमरे से बाहर हो गये थे।

कमरे में निस्तब्धता छा गई।

मैंने कहा— 'आपको तान्त्रिक जानकारी तो है।'

— 'हां गुरुजी!'

उसने कहा— 'बंगाल में तो तान्त्रिक विद्या कुटीर-उद्योग की तरह है, यह सब मैंने अपने पिता से सीखा है, पर केवल ऐसे चुटकुले ही. . . ऐसे-ऐसे चुटकुले तो मुझे सौ से ज्यादा आते हैं।'

इधर-उधर की बातें हुई और पति-पत्नी चले गये। फिर इसके बाद चार-छः बार मिसेज भट्टाचार्या ज्योतिष सीखने आई भी, पर फिर वह नहीं मिली, पता लगाया, तो यह ज्ञात हुआ कि वह बंगाल चली गई है, अपने पति के साथ; उसकी मां का देहान्त हो गया था और पति ने कम्पलसरी रिटायरमेंट ले लिया था।

इसके बाद तो मिसेज भट्टाचार्या से पुनः मिलना नहीं हो सका।

हां, तो चर्चा चल रही थी बाबाजी की, मैं प्रसंगवशात् दूसरी तरफ भटक गया। मुझे बाबाजी का साहचर्य काफी समय तक मिला। मानसरोवर की यात्रा समाप्त कर वे कुछ समय अपने गुरु-स्थान मुंडीभाटी में रहे। यहां इनके गुरु का स्थान है तथा गुरु ने इसी स्थान पर समाधि ली थी।

एक दिन मुंडीभाटी में जब दुतल्ले पर बाबा बैठे हुए थे, मैंने पूछा— 'बाबा! योगी का क्या चिन्ह है?'

बाबा जी बोले— 'जो योग के मर्म को समझे।'

मैंने पूछा— 'क्या बाबा! योगी को अपनी क्रियाओं के चमत्कारों का प्रदर्शन करना चाहिए?'

बाबा बोले— 'नहीं, जब तक व्यक्ति योग मार्ग पर है, पूर्णता प्राप्त नहीं की है, तब तक उसे चमत्कारों से सर्वथा दूर रहना चाहिए, क्योंकि ये चमत्कार अहंकार की उत्पत्ति करते हैं. . . और अहंकार योग को भ्रष्ट करता है, अतः साधक जब तक योग-साधना में पूर्णता प्राप्त नहीं कर ले तब तक उसे सर्वथा साधारण रूप में रहना चाहिए। उकसाने पर भी वह चमत्कार बताने के फेर में नहीं पड़े। अपनी यौगिक क्रियाओं एवं साधनाओं को सर्वथा गुप्त रखे, यहां तक कि निकटतम स्वजनों को भी इनका भान नहीं होने दे. . . पर जो योग साधना में पूर्ण हो चुके हैं, उनके लिए बंधन नहीं है, क्योंकि वे अहं से शून्य हैं, चमत्कार-प्रदर्शन भी उनके चित्त में अहंकार की सृष्टि नहीं कर सकता।'

जो साधना पूरी कर चुके हैं, उनके लिए कुछ भी असम्भव नहीं है। सम्पूर्ण भौतिक पदार्थ उनके लिए सहज गम्य हैं, वे भौतिकता से काफी ऊंचे उठे होते हैं।

बाबा इस 'मुंडीभाटी' आश्रम में आते ही रहते थे। इस आश्रम का सम्पूर्ण व्यय बाबा ही वहन करते थे। कई बार वे साधना-रत होने के कारण इस आश्रम में बनी 'सिद्ध गुफा' में तीन-चार महीने के लिए प्रवेश कर जाते थे। न भोजन लेते थे, न पानी और न चार महीने बाहर ही निकलते थे। इन चार महीनों में कोई उन्हें देख भी नहीं सकता था।

वे इन दिनों भी इस 'सिद्ध गुफा' में प्रवेश करने वाले थे। उनसे बिछुड़ना मेरे लिए असम्भव-सा था, पर उनकी कठोर आज्ञा शिरोधार्य थी। जिस दिन उन्होंने 'सिद्ध गुफा' में प्रवेश किया, सभी शिष्यों (जो चार-पांच थे) को और मुझे भी

आशीर्वाद दिया, सिर पर हाथ फेरा और गुफा में प्रवेश कर गये।

मैं सन्ध्या को बाबा की स्मृति चित्त में संजोये आगे के लिए चल पड़ा।

बाबा से बिछुड़े लगभग एक महीना हो गया था। मुझे कुछ भी अच्छा नहीं लग रहा था, न दिन को चैन था और न रात को; साधना में भी रह-रहकर मन उचट जाता। अभी तक मुझे कोई गुरु प्राप्त न हो सका था, जिनके चरणों में बैठकर अभय प्राप्त कर सकूं। मेरा मन वैराग्य की तरफ ज्यादा झुकता चला आ रहा था। गृहस्थ से अभी तक पिण्ड छुड़ा नहीं सका था और वैराग्य पूरी तरह से ले नहीं पाया था। मेरा मन त्रिशंकुवत् हो गया था— और यह ऊहापोह जब जरूरत से ज्याद बढ़ गयी, तब एक दिन शाम को मैंने बाबाजी का आवाहन किया।

जब पूर्ण समाधिस्थ हुआ, तब बाबा दिखायी दिये, जैसे कि टेलीविजन के पर्दे पर बिम्ब उभरता है। बाबा मेरे सामने थे, निश्छल, निस्पृह, वीतरागी, त्यागी, सौम्य, मधुर मुस्कान लिये।

बाबा ने पूछा— 'क्यों?'

— 'मेरा मन नहीं लग रहा है बाबा! मैं अभी तक अंधकार में हूं, ध्यानस्थ होने की चेष्टा करता हूं, तो पूर्ण तन्मयता नहीं आ पाती। घर जाने की इच्छा नहीं हो रही है, आपसे बिछुड़ने के बाद लगभग यह महीना व्यर्थ-सा ही गया है, अभी तक गुरु भी प्राप्त नहीं हो सके हैं'. . . और कहते-कहते मेरा गला भर आया।

— 'कल इसी समय यहीं पर तुम्हें एक साधु मिलेगा, तुम उसी के साथ चले जाना। शीघ्र ही गुरु प्राप्ति होगी'. . . और बाबा एकदम से अन्तर्धान् हो गये।

मेरी ध्यान-मुद्रा खटाक् से टूट गई। चैतन्य हुआ, बाबा से मिलना अनुभव कर शरीर पुलकित हो गया— उस दिन मुझे गहरी नींद आई।

त्वदीयं वस्तु गोविन्द. . .

दूसरे दिन सन्ध्या के समय उसी स्थान पर एक प्रौढ़ संन्यासी से भेंट हुई। उम्र होगी लगभग पचपन साठ वर्ष की, आते ही बोले – 'गुरुजी ने आपको बुलाया है, अभी चलना होगा'

'कौन गुरुजी?' – मैंने सहज स्वाभाविक रूप से प्रश्न किया

संन्यासी बन्धु बोले नहीं और आगे पैर बढ़ा दिये

लाचार होकर मैं भी उनके पीछे पीछे चल पड़ा, लगभग दस बारह घण्टों के बाद मेरा ही पहला बोल फूटा – 'बन्धु! थक गया हूं, थोड़ा विश्राम कर लें।'

अब तक वह प्रौढ़ संन्यासी एक शब्द भी नहीं बोला था, पर बराबर मौन, मेरे आगे आगे चलता जा रहा था। मेरे पूछने पर भी वह रुका नहीं.... और न पीछे मुड़कर देखा.... वह बराबर आगे बढ़ता रहा।

मैंने दूसरी बार कुछ नहीं कहा, उसी प्रकार उनके पीछे-पीछे चलता रहा।

प्रातः लगभग साढ़े तीन बजे हम एक आश्रम में पहुंचे।

[illegible] सुरम्य, दिव्याकार। आश्रम के पास आते-आते वह प्रौढ़ संन्यासी कहीं गुम हो चुका था। मैंने आध घण्टे एक वृक्ष के नीचे विश्राम किया। मुझे इस बीच कोई व्यक्ति दृष्टिगोचर नहीं हुआ, जब थकावट गई तो उठ खड़ा हुआ। आश्रम नदी के किनारे बसा हुआ था, मैंने जी भरकर स्नान किया, सन्ध्या वन्दन किया और ध्यानस्थ हो गया। जब आंख खुली, उस समय भगवान भास्कर प्राची की खिड़की से मंद-मंद मुस्करा रहे थे।

आश्रम में थोड़ी-बहुत चहल-पहल शुरु हो गयी थी। इक्का-दुक्का साधु इधर-उधर घूमते नजर आ रहे थे। मैं वहीं वृक्ष के नीचे बैठा यह सब देख रहा था। जो संन्यासी मुझे यहां तक लेकर आया था, वह कहीं दृष्टिगोचर नहीं हो रहा था।

लगभग साढ़े नौ बजे मेरा बुलावा आया और मुझे आश्रम से लगभग एक फर्लांग दूर कुटिया के पास ले जाकर खड़ा कर दिया गया। कुटिया के बाहर एक युवा साधु खड़ा था।

मुझे जो लेकर आया था, उसने उस युवा साधु से कुछ कहा, जो मैं समझ नहीं सका। युवा साधु ने मेरी कपड़ों की थैली बाहर ही रखवा दी और मुझे कुटिया के अन्दर जाने की अनुमति दे दी।

अन्दर का दृश्य अद्भुत था, ऐसा शीतल प्रकाश, कि जैसे सैकड़ों चन्द्रमा एक साथ चमक रहे हों, अन्दर कुटिया के बीचों-बीच "परम हंस स्वामी सच्चिदानंद जी" स्थित थे, शान्त-तेजस्वी। मैंने पहले-पहल पूज्य गुरुजी के सिर के चतुर्दिक ही प्रकाश-किरीट देखा। इससे पूर्व चित्रों में श्रीराम, श्रीकृष्ण आदि देवी-देवताओं के सिर के चारों ओर प्रकाश-किरीट देखा था। योगियों का तेजस्वी मुखमण्डल तो देखा था, पर प्रकाश-किरीट पहली बार ही दिखाई दिया।

वृद्ध शरीर, गौर वर्ण, लम्बा डील-डौल, प्रशस्त ललाट, तेजस्वी मुखमण्डल और शान्त सरल प्रेमपूर्ण आंखें. . . देखता ही रह गया टकटकी बांधे। आंखें वहां से हटने का नाम ही नहीं ले रही थीं. . . जैसे काफी समय से प्यासी हों और आज छककर अमृत पी रही हों, अबाध, निर्द्वन्द्व गति से।

उन्होंने उंगली से मुझे बैठने का संकेत किया, मैं बैठ गया। अब

मैंने कुटिया में दृष्टि डाली– साफ, पवित्र एवं [illegible] कुटिया [illegible] कुटिया में बाईं ओर एक अन्य साधु समाधिस्थ थे।

मेरी सारी इन्द्रियां एक बार पुनः गुरु-चरणों [illegible] कह रही थीं, ये सामने हैं, जिनको तुम खोज रहे हो [illegible] तक तुम इतने वर्षों से भटकते रहे हो, ये वही हैं। [illegible] से हृदय की गांठ खुल सकती है, संशयों के [illegible] समस्त दुष्कर्मों का क्षय हो सकता है तथा जिनके [illegible] साक्षात्कार सम्भव हो सकता है।

भिद्यते हृदय-ग्रन्थिः, छिद्यन्ते सर्व संशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे।।

संसार-सिन्धु को पार करने का एकमात्र साधन है– गुरु [illegible] कि समर्थ होता है इस प्रकार की बाधाओं से पार पहुंचाने के लिए [illegible] तिलक' का यह कथन स्मरण हो आया–

संसार सिन्धोस्तरणैक हेतून्,
दधे गुरून् मूर्ध्नि शिव स्वरूपान्।
रजांसि येषां पद पंकजानां;
तीर्थाभिषेकं श्रियमावहन्ति।।

अर्थात् "संसार रूपी समुद्र को पार करने के लिए एकमात्र हेतु शिव स्वरूप गुरु को मैं अपने सहस्रार में स्थापित करता हूं, जिनके चरण कमलों की धूल तीर्थ-स्नान के समान फल को देने वाली है।

मैं परमहंस स्वामी जी के चरणों में झुक गया। गुरुदेव के मुख से पहला वाक्य निःसृत हुआ–

"अभयास्तु"

मैं उसी क्षण अपने-आपको अभय समझने लगा। हो सकता है लोगों को यह आश्चर्यजनक लगे, पर उस समय मेरे चारों ओर का वातावरण ही ऐसा था. . . और फिर कई स्वप्नों में मुझे संकेत मिल चुका था कि [illegible] ही योग्य गुरु की प्राप्ति होगी और वे गुरु परमहंस स्वामी सच्चिदानंद जी [illegible]–

आरिफाँ के जामे-हक नोशीदः अंद,
राजहां दानिस्तः वां पोशीदः अंद।
हर किरा इसरारे-हक आमोख्तन्द;
मुहु कर्दन्दो दहानश दीख्तन्द।।

यह था, मेरा गुरु से प्रथम साक्षात्कार। इसके बाद तो उनकी असीम कृपा निरन्तर बनी रही और अपार्थिव रूप में उनका मार्गदर्शन आज भी मेरे सामने है।

इस घटना के बाद बीस दिनों तक मुझे अलग रखा गया। गुरु-भाई विज्ञानानन्द मुझे साधना के उच्च स्तरों का अभ्यास कराते, चौबीस घण्टों में बीस घण्टे इस कार्य में बीतने लगे। बाहर की दुनिया से मैं कट चुका था, मैं और केवल विज्ञानानन्द ही थे. . . और बराबर दीक्षा-मार्ग के चलने की पृष्ठभूमि तैयार की जा रही थी।

बीसवें दिन सायं मेरी परीक्षा हुई। परीक्षा में सफल जान इक्कीसवें दिन पूज्य गुरुदेव ने मुझे दीक्षा दी, सहस्रदल कमल प्रतिस्थापन किया. . . और कुण्डलिनी जगाकर मेरे शरीर में शक्ति-संचार किया। मेरे सिर पर गुरु का वरद हाथ था. . . और मैं उस घड़ी को अपने समस्त पुण्यों का मूल समझकर कृतकृत्य हो रहा था।

इसके बाद लगभग छः महीने तक पूज्य गुरुदेव के साहचर्य में रहा। इसके पश्चात् उन्होंने मुझे पुनः गृहस्थ पालन की आज्ञा दी और लोक में जाकर निस्पृह भाव से भ्रमण करने की आज्ञा दी। यद्यपि मैं उस स्थान को छोड़ना नहीं चाहता था, पर गुरु आज्ञा सर्वोपरि थी। इन छः महीनों में उन्होंने मुझे जो कुछ दिया, वह अक्षय है, मेरे जीवन का समस्त श्रेय एवं प्रेय है, जीवन की अमूल्य निधि है।

परमहंस स्वामी सच्चिदानन्द अलौकिक योगशक्ति के भण्डार हैं। संसार की कोई वस्तु उनके लिए अगम्य नहीं है। प्रकृति की सत्ता के वे एकीभूत पुञ्ज हैं। वायुमण्डल से वे भौतिक वस्तुओं को उत्पन्न करने में सक्षम हैं।

एक बार सूर्यार्घ्य देते समय शंख गिरकर टूट गया; मैंने मध्याह्न

को बाबाजी से प्रार्थना की, बाबाजी कुछ क्षण मेरी तरफ देखते रहे और अगले ही क्षण हाथ ऊंचा कर वायुमण्डल में से दक्षिणावर्ती शंख लेकर मुझे दे दिया।

एक बार गुरु जी के सामने मैंने योग के सम्बन्ध में प्रश्न किया, मैंने पूछा— 'योग क्या है? योग के अन्तर्गत जो समाधि लगती है, उसका क्या आनन्द है?'

गुरुदेव ने कहा— 'चित्तवृत्तियों का निरोध ही योग है और यह इस प्रकार से सम्भव है'—

अग्निर्यत्राभिमथ्यते, वायुर्यत्राधिरुध्यते।
सोमो यत्रातिरिच्यते, तत्र संजायते मनः।।

त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं
हृदीन्द्रियाणि मनसा निवेश्य।
ब्राह्मीं जपन् प्रतरेत विद्वान्
स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि।।

नीहार धूमार्क निलानलानां
खद्योतविद्युत्स्फटिकाशशीनाम्।
एतानि रूपाणि पुरः सराणि
ब्रह्मण्यभिव्यक्तिकराणि योगे।।

पृथिव्यप्तेजो निखिले समुत्थिते
पंचात्मके योगगुणे प्रवृत्ते।
न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः
प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम्।।

लघुत्व मारोग्य मलोलुपत्वं
वर्णप्रसादं स्वरसौष्ठवं च।
गन्धः शुभो मूत्रपुरीषमल्पं
योगप्रवृत्तिं प्रथमा वदन्ति।।

यथैव बिम्बं मृदयोपलिप्तं
तेजोमयं भ्राजयते सुधान्तम्।
तद् वात्मतत्त्वं प्रसमीक्ष्य देही
एकः कृतार्थो भवते वीतशोकः।।

इसे स्पष्ट करते हुए गुरुदेव ने बताया— 'जहां अग्नि का मंथन होता है और प्राण का विधिवत् निरोध कर सोमरस प्रकट किया जाता है, वहीं पर मन नितान्त पवित्र, शुद्ध एवं अकलुष होता है। विद्वान् साधक का यह कर्त्तव्य है, कि वह अपने सिर, कंठ और वक्ष को निरन्तर ऊंचा उठाता रहे, शरीर को सीधा एवं संयमित करता रहे, मन के द्वारा इन्द्रियों का हृदय में निरोध कर प्रणव-नौका से जितने भी कठिन एवं भयावह स्थल हैं उन्हें पार कर जाय। जो सच्चा योगी है, उनके सामने कुहरा, धुआं, सूर्य, वायु, अग्नि, विद्युत्, स्फटिक मणि और चन्द्र के समान अनेक दृश्य दिखाई पड़ते रहते हैं— और ये दृश्य योग की सफलता के लक्षण हैं।

पंचमहाभूतों का उत्थान होने पर पंचयोग गुण सिद्ध होते हैं और ऐसा होने पर साधक रोग, जरा एवं मृत्यु से हमेशा-हमेशा के लिए छुटकारा पा लेता है। देह का हल्का होना, आरोग्य, भोगों की निवृत्ति, वर्णोज्ज्वलता, स्वर-संधान, गंध मार्दन, मल-मूत्र शिथिलीकरण— ये सब योग की प्रथमावस्था हैं; जैसे कोई उज्ज्वल रत्न मिट्टी का संसर्ग पाकर मैला-सा हो जाता है, और पुनः पोंछने पर दमकने लगता है; उसी प्रकार योगी आत्म तत्त्व को जानकर एकावस्था को प्राप्त करता है और तब समस्त क्लेशों से मुक्त हो जाता है।

अब रही बात, कि वह लोक कैसा है, तो इस सम्बन्ध में स्पष्ट है—

भूर्भुवः स्वरिमे लोका श्चन्द्रसूर्याग्नि देवताः।
प्रतिष्ठिताः सदा यत्र तत्परं ज्योतिरोमिति।।

त्रयः कालास्त्रयो लोका स्त्रयोवेदास्त्रयोऽग्नयः।
त्रयः स्वराः स्थिताः यत्र तत्परं ज्योतिरोमिति।।

सत्वं रजस्तमश्चैव, ब्रह्म विष्णु महेश्वराः।

सर्वे देवाः स्थिता यत्र तत्परं ज्योतिरोमिति।।

कृतिरिच्छा तथा ज्ञानं, ब्राह्मी रौद्री च वैष्णवी।
त्रिधा शक्तिः स्थिता यत्र तत्परं ज्योतिरोमिति।

शुचिर्वाप्यशुचिर्वापि यो जपेत्प्रणवं सदा।
न स लिप्यति पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा।।

पद्मासनं समारुह्य, समकायशिरोधरः।
नासाग्रदृष्टिरेकाकी, जपेदोंकारमव्ययम्।।

देहेऽस्मिन्वर्तते मेरु; सप्तद्वीप समन्वितः।
सरितः सागराः शैलाः क्षेत्राणि क्षेत्रपालकाः।।

ऋषयो मुनयः सर्वे नक्षत्राणि ग्रहास्तथा।
पुण्यतीर्थानि पीठानि वर्तन्ते पीठदेवताः।।

सृष्टिसंहारकर्तारौ भ्रमन्तौ शशिभास्करौ।
नभो वायुश्च वह्निश्च जलं पृथ्वी तथैव च।
जानाति यः सर्वमिदं स योगी नात्र संशयः।।

नाभिजानाति शीतोष्णं न दुःखं न सुखं तथा।
न मानं नापमानं च योगी युक्तः समाधिना।।

अभेद्यः सर्वशस्त्राणामवध्यः सर्वदेहिनाम्।
अग्राह्यो मन्त्रसंधानं योगी युक्त समाधिना।।

दृष्टिः स्थिरा यस्य विनापि दृश्याद्,
वायुः स्थिरो यस्य विना प्रयत्नात्।
मनः स्थिरं यस्य विनावलम्बात्।
स एव योगी स गुरुः स सेव्यः।।

भ्रुवोर्मध्ये शिवस्थानं मनस्तत्र विलीयते।
ज्ञातव्यं तत्पदं तूर्यं तत्र कालो न विद्यते।।

भू र्भुवः स्वः तीनों लोक, जिसके स्वामी चन्द्रमा, सूर्य एवं अग्नि देवता हैं और ये जहां प्रतिष्ठित हैं उसके ऊपर ज्योतिस्वरूप ओंकार का पावन स्थान है।

तीनों काल, तीनों वेद, तीनों लोक, तीनों अग्नियां और तीनों स्वर जहां स्थित हैं, उसके ऊपर भी ओंकर ज्योति का स्थान है।

सत, रज, तम, ब्रह्मा, विष्णु, महेश और समस्त देवता जहां स्थित हैं, उसके ऊपर ओंकार ज्योति देखी जा सकती है।

कृति, इच्छा और ज्ञान; ब्राह्मी, रौद्री और वैष्णवी, ये त्रिधाशक्तियां जहां अवस्थित हैं, उसके ऊपर यह शक्ति देखी जा सकती है।

ओंकार सिद्धि ही प्रथम सिद्धि है, जिसके द्वारा आगे बढ़ा जा सकता है। पद्मासन पर बैठकर, शरीर, ग्रीवा और सिर को सीधा रखकर नासिकाग्र पर दृष्टि स्थापित कर जप करना चाहिए। इस शरीर में मेरु है, सप्त देवताओं के सप्त मेरु इसी शरीर में स्थित हैं। समस्त सरिताएं, सागर पर्वत और क्षेत्र इसी शरीर में हैं। इसी में समस्त देव, ऋषि, मुनि, नक्षत्र, ग्रह, तीर्थ स्थान, पीठ एवं पीठदेव हैं। सृष्टि को उत्पन्न, पालन एवं संहार करने वाले भी इसी शरीर में हैं, जो इन सब को जान लेता है, वही वास्तव में योगी कहलाने का अधिकारी है।

न तो योगी शीत को जानता है, न उष्ण को; न वह सुख को जानता है, और न दुःख को। मान-अपमान से वह परे रहता है, वह सब शस्त्रों से अभेद्य है, वह सब मनुष्यों से अवध्य है, कोई मंत्र उसे ग्रस्त नहीं कर सकता।

जिसकी दृष्टि बिना किसी दृश्य के स्थिर है, बिना प्रयत्न के जिसका वायु स्थिर है, बिना अवलम्बन के जिसका मन स्थिर है, वही योगी है, वही गुरु कहलाने का अधिकारी है।

दोनों भ्रुवों के मध्य शिव-वास है, वहीं मन का विलय होता है, उस स्थान को जान लेना ही पूर्णता है।

गुरुजी दो क्षण रुके, फिर बोले – 'तुमने आनन्द-समाधि के बारे में पूछा है, इसका उत्तर अत्यन्त कठिन है' –

सैषानन्दस्य मीमांसा भवति। युवा स्यात्साधुयुवाध्यापक आशिष्टो द्रदिष्टो बलिष्ठस्तस्येयं पृथिवी सर्वा वित्तस्य पूर्णा स्यात्। स एको मानुष आनन्दाः।

ते ये शतं मानुषाणामानन्दाः। स एको मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दाः श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य।

ते ये शतं मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दाः। स एको देवगन्धर्वाणामानन्दाः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य।

ते ये शतं देवगन्धर्वाणामानन्दाः। स एकः पितृणां चिरलोकालोकानामानन्दाः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य।

ते ये शतं पितृणां चिरलोकानामानन्दाः। स एक आजानजानां देवानामानन्दाः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य।

ते ये शतमाजानजानां देवानामानन्दाः। स एकः कर्मदेवानां देवानामानन्दाः, ये कर्मणा देवानपि यन्ति। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य।

ते ये शतं कर्मदेवानां देवानामानन्दाः। स एको देवानामानन्दाः श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य।

ते ये शतं देवानामानन्दाः। स एक इन्द्रस्यानन्दाः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य।

ते ये शतमिन्द्रस्यानन्दाः। स एको बृहस्पतेरानन्दाः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य।

ते ये शतं बृहस्पतेरानन्दाः स एकः प्रजापतेरानन्दाः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य।

ते ये शतं प्रजापतेरानन्दाः। स एको ब्रह्मण आनन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य।

Scanned by CamScanner

स यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एकः। स एवं विदस्माल्लोकप्रत्यये। एतमन्नमयमात्मानमुपसंक्रामति। एवं प्राणमयमात्मानमुसंक्रामति। एवं मनोमयात्मानमुपसंक्रामति। एवं विज्ञान-मयमात्मानमुपसंक्रामति। एतमानन्दमयात्मानमुपसंक्रामति।।

सदाचारी युवक, शिष्ट वेदाध्ययन युक्त, स्वस्थ बलिष्ठ एवं वैभवयुक्त पृथ्वीपति हो, तो यह मनुष्य आनन्दयुक्त कहलाता है।

मानवों के सौ आनन्द मनुष्य-गंधर्वों के एक आनन्द के समान है, ऐसा आनन्द शुद्ध अन्तःकरण वाला शिष्य ही प्राप्त कर सकता है।

मनुष्य-गंधर्वों के सौ आनन्द, देव-गंधर्वों के एक आनन्द के तुल्य है। जिन व्यक्तियों की कामनाएं नष्ट हो चुकी हैं, ऐसे शिष्य को ही यह आनन्द प्राप्त हो सकता है।

देव-गन्धर्वों के सौ आनन्द पितृलोक में स्थायी रूप से रहने वाले पितरों के एक आनन्द के बराबर है, कामनारहित शिष्य ही यह प्राप्त कर सकता है। जो पितर स्थायी रूप से पितर-लोक में हैं, उनके सौ आनन्द आजानज-संज्ञक देवताओं का एक आनन्द है, यह आनन्द कामनामुक्त वेदवेत्ता शिष्य को ही प्राप्त हो सकता है।

आजानज-संज्ञक देवताओं के सौ आनन्द कर्मसंज्ञक देवताओं का एक आनन्द है; कामना-रहित शिष्य ही ऐसे आनन्द से युक्त होते हैं।

जो कर्म-देवताओं के सौ आनन्द हैं, वह देवों के एक आनन्द के बराबर है, वह आनन्द नष्टकाम शिष्य ही प्राप्त कर सकता है।

देवों के सौ आनन्दों के बराबर बृहस्पति का एक आनन्द है, जो शिष्य कामनाओं से मुक्त हो चुका है, वही उस आनन्द को प्राप्त कर सकता है।

बृहस्पति के सौ आनन्द, प्रजापति के एक आनन्द के समान है, मुक्तकाम शिष्य ही इस आनन्द को जान सकता है।

प्रजापति के सौ आनन्दों के समान ब्रह्म का एक आनन्द है, कामनामुक्त शिष्य ही इस आनन्द को भोग सकता है।

मनुष्य में और सूर्य में जो निहित है, वह एक ही है, जो इसको जान लेता है, वह अन्नमय आत्मा को प्राप्त कर लेता है। वहीं आगे चल कर प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय आत्मा से साक्षात्कार कर आनन्द-समाधि को प्राप्त कर सकता है।

श्री श्री गुरुदेव के शरीर से निरन्तर गन्ध निकलती रहती है। ऐसी गन्ध उच्च साधकों के शरीर से घ्राणित होती है। श्रीकृष्ण के शरीर से भी गन्ध सदा प्रवहमान रहती थी। 'गोविन्द लीलामृत' में श्री श्रीकृष्ण के शरीर से निकलने वाली अष्टगन्ध का उल्लेख मिलता है–

कुरंगमदजिद् वपु परिमलोर्मिकृष्टांगन,
स्वकांगनलिनाष्टके शशि युताब्ज गन्धप्रियः।
मदेन्दुवर चन्दन अगर सुगन्धि चर्चार्चितः
स मे मदनमोहनः सखि तनोति नासास्पृहाम्।।

यह अष्टगन्ध इतनी भव्य, मादक एवं सम्मोहक थी, कि सहज ही दूसरों को आकृष्ट करने की क्षमता रखती थी। राधा के शरीर से भी ऐसी गन्ध निकलती थी, जिससे उसे 'पद्मिनी' संज्ञा दी गई थी।

मैंने गुरुदेव से एक दिन इसी प्रसंग पर बात की– 'क्या प्रत्येक साधक अपने शरीर से ऐसी गन्ध प्रवाहित कर सकता है और क्या वह गंध स्थायी रह सकती है?'

गुरुजी ने उत्तर दिया– 'योग की चार अवस्थाओं में से पहली अवस्था में ही 'गंध निःसृत साधना' सम्पन्न की जा सकती है, पर जहां तक स्थायी गंध का प्रश्न है, वह तब तक सम्भव नहीं, जब तक कि साधक योग की चतुर्थावस्था में न पहुंचे।'

– 'गुरुदेव! क्या इस प्रकार किसी दिव्य गंध की सृष्टि की जा सकती है?'

स्वामीजी बोले– 'क्यों नहीं। क्या तुम देखना चाहोगे?'

– 'और देखते ही देखते गुलाब की हल्की-हल्की फुहारें पड़ने लगीं, जैसे; वर्षा हो रही हो, बहुत मद्धिम, हम भीग से गये। चारों तरफ

गुलाब की सुगंध भर गई, जैसे ढेर सारे ताजे गुलाब छितरा दिये गये हों।'

मैंने कहा– 'यह तो गुलाब के इत्र की वर्षा है, पर यह स्थायी तो नहीं रह सकती।'

स्वामीजी ने कहा– 'जा बाहर से पत्थर उठा ला।'

मैं पत्थर लेकर स्वामीजी के पास पहुंचा।

स्वामीजी बोले– 'इस पत्थर में किस प्रकार की गंध है?'

मैंने कहा– 'कुछ नहीं।'

– 'तो तुम इस पत्थर में कैसी सुगन्ध चाहते हो?'

मैंने कहा– 'अष्टगंध, जैसी कि श्रीकृष्ण या महाप्रभु चैतन्य के शरीर से निकलती थी. . . और जैसा कि शास्त्रों में उल्लेख है', यह गंध– मृगमद, कपूर, नीलोत्पल, चन्दन, अगरू, तुलसी-मंजरी आदि सुगंधित द्रव्यों का सम्मिश्रण भी।

स्वामीजी ने पत्थर मेरे हाथ से लिया और दो क्षण उसे ऊपर हवा में रखकर मेरे सामने कर दिया।

उस पत्थर से एक अद्भुत सुगंध निकल रही थी, जैसी कि मैंने इससे पूर्व कभी अनुभव नहीं की थी।

– 'क्या यह सुगन्ध स्थायी रहेगी।'

– 'हाँ! तुम चाहो तो इस पत्थर को अपने पास रख लो, स्वयं अनुभव कर लेना।'

कई वर्षों तक यह पत्थर मेरे पास रहा। जब-जब भी मैं उस पत्थर को सूंघता, तन्मय हो जाता। एक अनोखे दिव्य लोक में पहुंच जाता। कई बार मानसिक परेशानियों के क्षणों में इस पत्थर को सूंघकर समाधिस्थ हुआ था, अस्तु।

एक दिन आकाशगमन की चर्चा चल पड़ी।

स्वामीजी बोले– 'जो अपने भौतिक शरीर को हवा से हल्का कर आसन से ऊंचा उठ सकता है, वह आकाशगमन भी कर सकता है। योगी के लिए यह कोई असम्भव बात नहीं। जब तुम पहली बार इस कुटिया में आये थे, तब तुमने यह व्यापार देखा ही था।'

– 'गुरुजी! यह शरीर मध्याकर्षण नियमों से बंधा है, इसीलिए भूमि पर यह स्थित है, फिर. . .'

गुरुजी हंसे, बोले– 'पागल, योगियों के लिए यह कुछ भी अगम्य नहीं। शरीर में रज, तम और सत्व तीनों का आविर्भाव है, पर जब मानव साधना से सत्व की बाहुल्यता शरीर में कर लेता है, तो वह लघुत्व एवं हल्केपन को प्राप्त कर लेता है; जितनी ही देह सत्वगुण से आवेष्टित होगी, उतनी ही वह स्थूलता से परे वायवीय रूप धारण करेगी। यह 'सत्वाकर्षक प्राणायाम' जप एवं अन्य साधनाओं से सम्भव है, जितनी ही देह की लघुता में वृद्धि होगी, व्यक्ति उतना ही ऊंचा उठ सकेगा। कुण्डलिनी शक्ति के प्रबल जागरण से ही यह सम्भव है।

'गुरुजी! किसी साधक ने कुम्भक के द्वारा इस व्यापार का होना बताया था'– मैंने अपने पूर्व अनुभव को ध्यान में रखकर जिज्ञासा की।

स्वामी जी हंसे. . . 'कुम्भक से भी यह सम्भव है। हमारे चतुर्दिक जो वायुमण्डल है, उससे अभ्यान्तरिक वायु कुम्भक प्रयोग द्वारा हल्की कर लेने पर स्वभावतः शरीर हल्का होकर ऊपर उठ जाता है; पर इसका भी मूलाधार कुण्डलिनी ही है, क्योंकि मूलाधार में स्थित कुण्डलिनी, चिदग्नि के प्रज्वलित होने की चेष्टा करती है। वायु के साथ ही शरीर भी उत्थित होता है, पर मात्र देह के उत्थित होने से ही आकाशगमन सम्भव नहीं है। इसके लिए काफी बड़ी साधना करनी पड़ती है।

इसके अनन्तर पूज्य गुरुजी ने चिदग्नि प्रज्वलित करने की विधि बताई और चिदग्नि प्रज्वलित कर किस प्रकार अभ्यान्तरिक वायु को हल्का कर शरीर को लघुत्व दिया जाता है, यह प्रयोग करके दिखाया।

आगे के जीवन में मैंने इसका अनुभव भी किया। इसके बाद लगभग पांच वर्षों के बाद की बात है, एक बार मेरा छोटा भाई बहुत बीमार पड़ा। बीमारी बढ़ती गई, बचने की उम्मीद कम रह गई। एक रात्रि को वह पेशाब करने के लिए उठा, किसी को जगाया नहीं। उठकर आंगन में जा रहा था, कि उसे चक्कर आया और लड़खड़ाकर गिरते-गिरते संभल-सा गया– जहां पर खड़ा था, उसके पास ही चारा डालने की नुकीली बरछी-सी

पड़ी थी; यदि वहां पर गिरता तो निश्चय ही उस बरछी पर गिरता. . . और उसका माथा छिद जाता, पर जब होश आया, तो भाई ने कहा–

– 'मुझे किसने सहारा दिया था?'

मैंने कहा– 'हम तो नींद में थे, तुम्हें कुछ ध्यान रहा?'

भाई ने कहा– 'एक बाबाजी थे, श्मश्रुयुक्त, शान्त चेहरा, तेजस्वी मुखमंडल. . . ज्योंही मैं गिरने लगा, तो उन्होंने मुझे संभाल लिया और वापस हौले से इस पलंग पर लिटाया. . . उन्होंने ये गोलियां भी मुझे दी हैं।'

उसने बंद मुट्ठी खोली, तो सफेद छोटी-छोटी गोलियां उसकी मुट्ठी में थीं।

– 'पर इसका प्रयोग कैसे करना है?'

– 'यह तो ज्ञात नहीं। शायद उन्होंने मुझे कुछ कहा भी था, पर बेहोशी की-सी हालत होने के कारण स्मरण नहीं रहा।'

मैं पुलकित हुआ, कि श्री श्रीगुरुदेव पधारे थे. . . और खिन्न भी, कि इस लौकिक देह के लिए पूज्य गुरुदेव को कष्ट उठाना पड़ा। कमरे में पद्मगंध व्याप्त थी, जिससे यह प्रमाणित होता था, कि कुछ समय पहले पूज्य गुरुदेव पधारे थे।

गोलियों के प्रयोग का विवरण जानना जरूरी था। मैं स्नान कर ध्यानस्थ हुआ। पांच-सात मिनट बाद ही श्री श्रीगुरुदेव से टैलीपैथिक सम्पर्क स्थापित हुआ।

मैंने कहा– 'आपको कष्ट हुआ।'

– 'अरे पगले! तुम सब तो आराम करते हो. . . और हमें तुम्हारा ध्यान रखना पड़ता है।'

गोलियों के प्रयोग की विधि समझी और तदनुसार गोलियां दीं। आश्चर्यजनक रूप से उसने स्वस्थता प्राप्त की। स्वयं डॉक्टरों का दल इस बात पर हैरान था, कि इतनी भयंकर बीमारी इतनी जल्दी ठीक कैसे हो गई? जबकि संसार की कोई औषधि इतनी जल्दी स्वस्थता नहीं दे सकती थी, अस्तु।

एक बार कुम्भ के मेले में तिब्बती साधु 'लुंगोम्पा' से मिलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। तिब्बत में आकाशगमन को 'लोगोम' कहते हैं, और जो इस प्रक्रिया को जानते हैं, उन्हें 'लुंगोम्पा' कहते हैं। विदेशियों ने भी अपनी पुस्तकों में इस अनुभव को लिखा है। डॉक्टर जे० एस० डिरिंटग ने अपनी तिब्बत-यात्रा के दौरान ऐसे ही एक 'लुंगोम्पा' से भेंट की थी और अपनी आंखों से आकाश-गमन होते देखा था।

एक बार पूज्य गुरुजी ने जलगमन प्रक्रिया समझाई थी और सामने वाली नदी पर नंगे पांव चलकर दिखाया था। उस प्रक्रिया में भी 'कुम्भक रेचन' करना जरूरी है। मेरे गुरु-भाई 'स्वामी नित्यानन्द' ने बाद में अपने वार्तालाप में मुझे जलगमन प्रक्रिया के बारे में विस्तार से बताया था। स्वामी नित्यानन्द पूज्य गुरुदेव के कर्मठ शिष्य हैं एवं बारह वर्षों तक कठोर 'एकसान साधना' की है। उन्होंने बताया था, कि इस साधना के बाद पानी पर चलने पर ऐसा प्रतीत होता है, मानो हम बिछी हुई बरफ पर चल रहे हों। उन्होंने कुछ समय तक मुझे अभ्यास भी कराया था, पर फिर गुरु-आज्ञा से मुझे गृहस्थ में आना पड़ा. . . और इस साधना को पूर्ण न कर सका। यों यह साधना कठोर अवश्य है, पर जटिल नहीं है। इसके लिए समय, शक्ति एवं संयम की आवश्यकता है।

गुरुजी का काफी समय तक मुझे साहचर्य मिला। वे सूर्य-विज्ञान के अद्भुत ज्ञाता हैं। इससे पूर्व इसके बारे में यत्र-तत्र ग्रंथों में पढ़ चुका था, पर प्रत्यक्ष देखने का अवसर नहीं मिला था।

सूर्य विज्ञान का आधार सूर्य-रश्मि-ज्ञान है। इन विभिन्न रश्मियों के संयोगों से विभिन्न पदार्थों का प्रादुर्भाव या जन्म होता है। वस्तुओं की सत्ता की अभिव्यंजक ये ही रश्मियां हैं, अतः इन रश्मियों का परस्पर संघटन सूर्य विज्ञान का मूलाधार है।

सूर्य विज्ञान में संसार की प्रत्येक वस्तु या पदार्थ के निर्माण या संरचना की शक्ति है। जो योगी इन रश्मियों के परस्पर संघनन का रहस्य समझ जाता है, वह सूर्य विज्ञान को भी समझ जाता है। सूर्य विज्ञान पर काफी कुछ जानकारी एवं योग साधना श्रीमुख से प्राप्त हुई थी, परन्तु वह सब पाठकों के लिए अगम्य होने तथा गुह्य होने के कारण देना अभीष्ट

नहीं समझता।

एक दिन सूर्य सिद्धान्त पर प्रश्नोत्तर चल रहे थे।

मैंने पूछा— 'गुरुजी! क्या संसार की सभी वस्तुओं का आविर्भाव इस सिद्धान्त के माध्यम से सम्भव है?'

स्वामी जी ने कहा— 'इसमें क्या शक है. . . अभी देखो।'

— और उन्होंने अपने शरीर से ही लेन्स का आविर्भाव किया, और पास पड़े एक काष्ठ-पिण्ड को उठा लिया, बोले— 'तुम क्या चाहते हो?'

मैंने कहा— 'स्वामी जी! क्या इससे ताजा खिला हुआ गुलाब का फूल बनना सम्भव है?'

स्वामी जी बोले नहीं, उन्होंने लेन्स से सूर्य-किरणों का संघनन उस काष्ठ-खंड पर करना शुरू किया. . . और लगभग दो मिनट में वह काष्ट सुन्दर खिले हुए गुलाब पुष्प में परिणत हो चुका था। इसके बाद स्वामी जी ने उसी गुलाब पुष्प को चमेली में परिणत करके भी बताया।

इसी प्रकार एक दिन चर्चा चलने पर उन्होंने वृक्ष के एक पत्ते पर सूर्य रश्मियों का संघनन कर उसे सुन्दर आम के रूप में परिणत कर दिया था, जिसे शिष्यों ने खाया भी था।

गुरु जी की आज्ञा से एक दिन मुझे उस आश्रम से भी विदा लेनी पड़ी। मैं किसी भी हालत में आश्रम को छोड़ना नहीं चाहता था. . . और न गृहस्थ जीवन में ही रुचि रही थी, परन्तु गुरु आज्ञा के सामने मुझे सिर झुकाना पड़ा।

उन्होंने आदेश दिया— 'तुम गृहस्थ साधक बनो, मैं सदैव तुम्हारे साथ हूं।'

— और उनका यह आदेश ग्रहण कर मैं सीधा घर लौट आया।

श्री श्रीगुरुदेव अद्भुत साधक, तपोनिष्ठ योगी एवं दैवी शक्तियों के अतुलनीय भंडार हैं। सूर्य विज्ञान एवं क्षण विज्ञान के वे अद्वितीय मर्मज्ञ एवं अध्येता हैं।

स्थान-भय से मैं पूज्य गुरुदेव के समस्त गुणों एवं सिद्धियों का वर्णन यहां नहीं कर सकता, पर मैं 'सच्चिदानन्द स्मृति' नाम से छः खण्डों में एक ग्रंथ लिख रहा हूं, जिसमें पूज्य गुरुजी के पावन चरणों में बैठकर मुझे जो सीखने का अवसर मिला एवं जो उनकी कृपा से अनुभव प्राप्त हुए, उनका विवरण प्रस्तुत कर रहा हूं।

मैं अकिंचन गुरु-चरणों में दे भी क्या सकता हूं, यह सब तो उन्हीं की कृपा है।

सूक्ष्म शरीर से वे स्वयं ही तो हैं, मैं तो केवल निमित्त मात्र हूं।

''त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये''